स्वामीनाथ

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,५९,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९९, अक्टूबर १९७३

चित्र-सूची

Free of charge]   जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥   [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार। सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

सरयू-तट-विहारी श्रीराम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
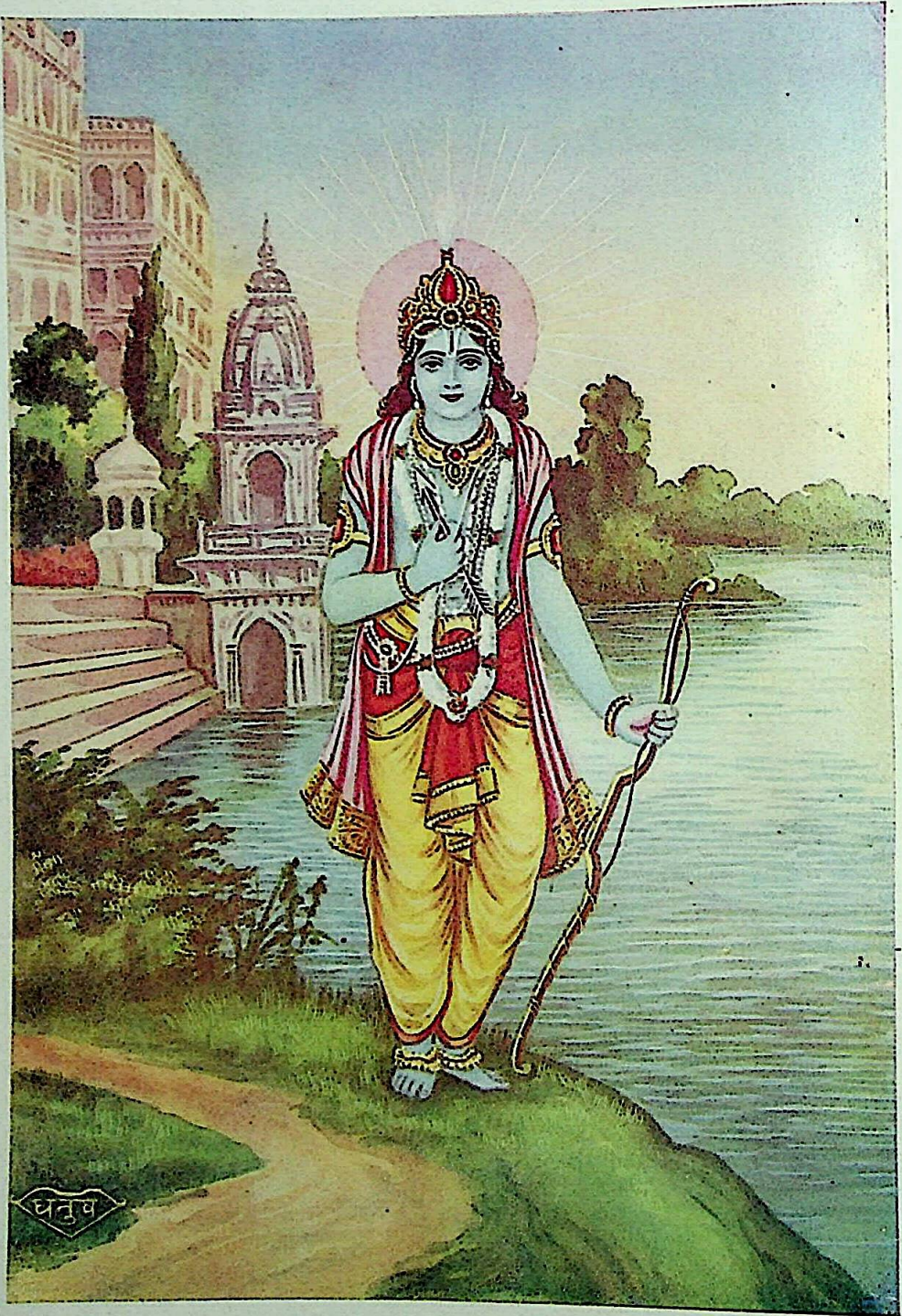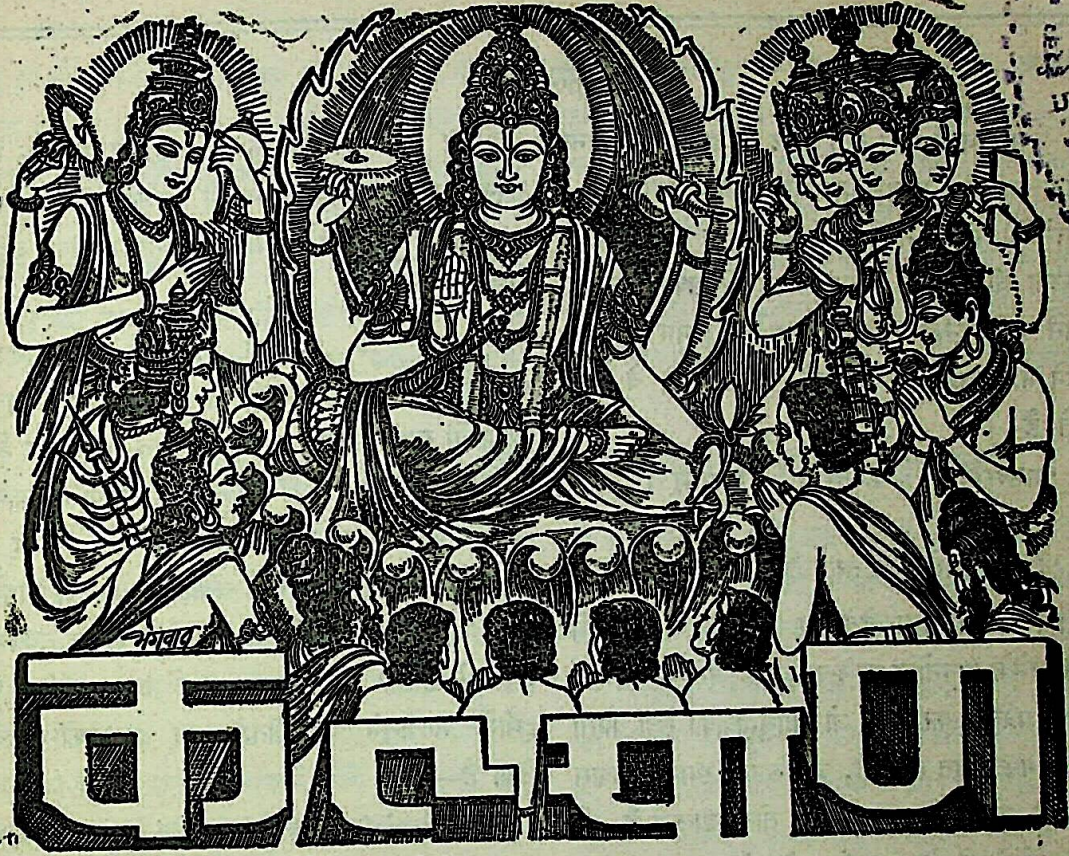
अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने । सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्वजिष्णवे ॥
नमो हिरण्यगर्भाय हरये शंकराय च । वासुदेवाय ताराय सर्गस्थित्यन्तकारिणे ॥
(श्रीविष्णुपुराण १ । २ । १-२)

वर्ष ४७ } गोरखपुर, सौर कार्तिक, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९९, अक्टूबर १९७३ { संख्या १०
पूर्णसंख्या ५६३

सरयू-तट-विहारी श्रीराम

श्रीरामं त्रिजगद्गुरुं सुरवरं सीतामनोनायकं
श्यामाङ्गं शशिकोटिपूर्णवदनं चञ्चत्कलाकौस्तुभम् ।
सौम्यं सत्यगुणोत्तमं सुसरयूतीरे वसन्तं प्रभुं
त्रातारं सकलार्थसिद्धिसहितं वन्दे रघूणां पतिम् ॥
(श्रीशंकराचार्य—श्रीरामकर्णामृत—१)

जो तीनों लोकोंके गुरु, देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ, श्रीसीताके हृदयेश्वर, श्यामसुन्दर शरीरवाले, करोड़ों चन्द्रमाओंकी कान्तिसे परिपूर्ण मुखवाले, चमकीली कौस्तुभ-मणिसे विभूषित, सौम्य, सत्यवादिताके गुणसे सर्वोत्तम, श्रीसरयू-तट-विहारी, सर्वसमर्थ, सबके रक्षक, सम्पूर्ण पुरुषार्थोंकी सिद्धियोंसे सुशोभित तथा रघुकुलके पति हैं, उन श्रीरामचन्द्रजीकी मैं वन्दना करता हूँ ।

कल्याण

भगवान्‌की माया बड़ी प्रबल है; इससे पार जाना सहज नहीं है। मायासे पार जानेका प्रश्न अनादि है। जितने भी ऋषि-मुनि-विचारक हुए हैं, वे सभी मायाकी प्रबलता स्वीकार करते हैं एवं अपने अनुभवके अनुसार उससे पार होनेका साधन बतलाते हैं। नारदजीने भी अपने भक्तिसूत्रोंमें इस प्रश्नको उठाया है। वे प्रश्न करते हैं—

'कस्तरति कस्तरति मायाम्।'

(भक्तिसूत्र—४६)

'दुस्तर मायासे कौन तरता है?'

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए उन्होंने चार सूत्रोंमें इससे तरनेके साधनोंका उल्लेख किया है; जैसे—'जो सब सङ्गोंका परित्याग करता है, जो महानुभावोंकी सेवा करता है, जो ममतारहित होता है, जो निर्जन स्थानमें निवास करता है, जो लौकिक बन्धनोंको तोड़ डालता है, जो तीनों गुणोंसे परे हो जाता है, जो योग तथा क्षेमका परित्याग कर देता है, जो कर्मफलका त्याग करता है, कर्मोंका भी त्याग करता है, सब कुछ त्यागकर जो निर्द्वन्द्व हो जाता है, जो वेदोंका भी भलीभाँति परित्याग कर देता है तथा जो अखण्ड एवं असीम भगवत्प्रेम प्राप्त कर लेता है, वह मायासे तर जाता है।' इतना ही नहीं, वह जगत्‌को भी मायासे तार देता है—

'स तरति स तरति स लोकांस्तारयति।'

(भक्तिसूत्र—५०)

वह वास्तविक तरन-तारन होता है।

नारदजीके बताये सभी साधन बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं और भगवत्प्रेमके इच्छुक प्रत्येक साधकको उनका पालन करना ही चाहिये। परंतु एकान्त-स्थानका सेवन करना—**'यो विविक्तस्थानं सेवते'**—आजके युगके लिये विशेष आवश्यक है। आज चारों ओरका वातावरण बड़ा ही विषाक्त हो रहा है, यहाँतक कि अपना घर एवं धार्मिक स्थान भी आजके भीषण विषसे प्रभावित हैं। ऐसी स्थितिमें एकान्तका सेवन बहुत आवश्यक है।

एकान्त दो प्रकारका होता है—एक मनका एकान्त, दूसरा शरीरका एकान्त। जगत् तथा जगत्‌के व्यापारोंमें रहकर भी मनुष्य मनसे एकान्त रह सकता है; किंतु यह ऊँचे साधकोंकी स्थिति है, साधारण साधकके लिये तो शरीरका एकान्त सबसे पहले आवश्यक है। मनुष्य जबतक विषय-वासनासे जकड़े हुए जन-समुदायमें और मोहक विषयोंसे भरे हुए स्थानोंमें रहेगा, तबतक भगवान्‌में उसका मन लगना प्रायः असम्भव ही है। इसीसे भगवान्‌ने भी गीतामें इस साधनको महत्त्व दिया है—

'विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।' (१३। १०)

अब विचारणीय यह है कि एक साधारण व्यक्ति इस साधनको किस प्रकार अपने व्यवहारमें लाये। इसके लिये कुछ बातोंपर ध्यान देना आवश्यक है। यदि साधक गृहस्थ है तो वह अपने घर-गृहस्थीके कार्योंसे समय निकालकर प्रतिदिन कम-से-कम आध घंटा एकान्तमें बैठे, सप्ताहमें एक दिन अपनेको भोगी जन-समूहसे अलग रखे। पीछे महीनेमें तीन-चार दिन तथा वर्षमें एक महीना एकान्तमें रहनेका प्रयास करे। 'विविक्तस्थान' का सरल अर्थ यही है कि 'जहाँपर मनको खींचनेवाले भोगों तथा भोगियोंका सङ्ग न हो।' भोगों तथा भोगियोंके सङ्गसे पृथक् रहना आजके युगके अनुरूप एकान्त है। पर प्रवाह तो उलटा ही चल रहा है। आज प्रत्येक व्यक्ति भीड़-भाड़में रहना चाहता है; अधिक-से-अधिक लोग उसे जानें-पहचानें, उसकी यह चाह रहती है—प्रयत्न रहता है। किंतु वास्तविकता

यह है कि भोग-जगत्‌में जिसका जितना अधिक परिचय होता है, वह उतना ही बँधता है। मैं तो जब अपने जीवनकी ओर देखता हूँ, तब यह स्पष्ट अनुभव होता है कि जैसे-जैसे परिचय बढ़ा, वैसे-वैसे 'उपाधियाँ' बढ़ती गयीं। अतएव प्रयत्न करके भोग-जगत्‌से जितना ही दूर रहा जाय, उतना ही मङ्गल है। अनेकों भक्त अपने ऊपर झूठा कलङ्कतक लेकर भोग-जगत्‌से दूर रहे हैं। झूठा कलङ्क अपने ऊपर लेनेमें बड़े ही साहसकी आवश्यकता है; उतना साहस प्रत्येक व्यक्ति नहीं बटोर सकता। अतएव स्वेच्छासे ही भोग तथा भोग-जगत्‌से यथासम्भव पृथक् रहनेका प्रयत्न किया जाय और अभ्यासके द्वारा इस साधनको बढ़ाया जाय। भोग-जगत्‌का सङ्ग कम होनेसे भगवान्‌का सङ्ग होगा और इसीमें मानव-जीवनका साफल्य है। 'भाईजी'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

मुक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। जो व्यक्ति यह कहते हैं कि मुक्ति किसी वर्ण-विशेष, आश्रम-विशेष अथवा देश-काल-विशेषमें ही होती है, हमारी मान्यताके अनुसार वे सत्यसे दूर हैं। भगवान्‌ने मुक्तिके लिये किसी भी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं बताया है; मुक्तिका द्वार उन्होंने मनुष्यमात्रके लिये खुला रखा है। फिर इस कलिकालमें तो भगवान्‌की उदारताकी सीमा ही नहीं है। मानवदेहकी प्राप्ति और वह भी कलिकालमें—ऐसा सुअवसर पाकर भी यदि हमलोग मुक्तिसे वञ्चित रह जायँ तो समझना चाहिये कि हमारा बड़ा ही दुर्भाग्य है। भगवान् श्रीरामके वचन हैं—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। .... ॥
(मानस ७। ४२। ४)

'बड़े भाग्यसे यह मनुष्य-शरीर मिला है। सब ग्रन्थोंने यही कहा है कि यह शरीर देवताओंको भी दुर्लभ है। यह साधनका धाम और मोक्षका द्वार है।'

मनुष्यका कल्याण होना वस्तुतः बहुत कठिन बात नहीं है, प्रत्युत बहुत ही सरल है। हमलोगोंने अपने कल्याणको बहुत कठिन एवं असम्भव मान रखा है—यह हमारी भूल है। इस भूलसे ही हमारी दुर्दशा हो रही है और उसके कारण हम मुक्तिसे वञ्चित रह रहे हैं। अतएव अपनी इस भूलको हमें सुधार लेना चाहिये और यह निश्चित मानना चाहिये कि परमात्माकी प्राप्तिपर हमारा जन्मजात अधिकार है।

विचार करनेपर यह बात समझमें आती है कि धन कमानेमें जितना परिश्रम मनुष्यको करना पड़ता है, भगवान्‌की प्राप्ति करनेमें उस प्रकारका उतना परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं है। धनकी प्राप्ति हमारे पूर्वजन्मोंके कर्मफलसे सम्भव है; यदि हमारे पूर्वजन्मोंके ऐसे कर्म नहीं हैं, जिनके फलस्वरूप हमें इस जन्ममें धन मिलना चाहिये तो हमारे अथक प्रयत्न करनेपर भी हमें धनकी प्राप्ति नहीं होगी; परंतु भगवान्‌की प्राप्ति तो इच्छासे ही होती है। भगवान्‌की प्राप्तिके लिये हमारी इच्छा अनन्य एवं ऐकान्तिक हो जाय तो उनकी प्राप्ति होकर रहेगी। भगवान् श्रीरामने भी यही घोषणा की है—

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥
(मानस ७। ४३। ४, ४४)

'यह मानव-शरीर भवसागरसे तरनेके लिये जहाज है। मेरी कृपा ही अनुकूल वायु है और सद्गुरु इस

दृढ़ जहाजके कर्णधार—खेनेवाले हैं। इस प्रकार मानवको दुर्लभ साधन भगवत्कृपासे सहज ही प्राप्त है। ऐसा सुअवसर पाकर भी जो मानव भवसागरसे नहीं तरता, वह कृतघ्न और मन्दबुद्धि है तथा वह आत्महत्या करनेवालेकी गतिको प्राप्त होता है।'

* * *

सबसे बढ़कर दामी—महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हर समय जो भी वस्तु हमारी दृष्टिके सम्मुख आये, उसको हम परमात्माका ही स्वरूप समझें; क्योंकि भगवान् ही समस्त विश्वके परमकारण और परमाधार हैं। अतएव यह विश्व भगवान्‌का ही स्वरूप है और उन्हींसे व्याप्त है। भगवान्‌ने गीतामें इस बातकी स्पष्ट घोषणा की है—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(७ । ७)

'मेरे सिवा किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है; यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मेरेमें गुँथा हुआ है।'

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७ । १९)

''बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी 'सब कुछ वासुदेव ही है, अर्थात् वासुदेवके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं', इस प्रकारसे मुझको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।''

अतएव दृष्टिपथमें आनेवाली प्रत्येक जड एवं चेतन वस्तुको भगवान्‌का ही स्वरूप समझकर आनन्दमें मग्न रहना चाहिये। गीताकी उपर्युक्त वाणीको कण्ठस्थ कर लेना चाहिये तथा उसके अनुसार व्यवहार करना चाहिये। सब कुछको भगवान् वासुदेव-का स्वरूप समझना—यह महापुरुषोंमें स्वभावसिद्ध होता है; हमलोगोंको इसे साधनरूपमें स्वीकार कर लेना चाहिये। 'सब कुछ वासुदेव है'—इस भावसे भगवान्‌का भजन करना बड़े ही महत्त्वका है, पर है बहुत ही कठिन। व्यवहारकालमें अनुकूलता-प्रतिकूलताको लेकर इस भावका स्थिर रहना बहुत ही कठिन होता है। इसीसे भगवान्‌ने ऐसी आस्था-निष्ठावाले पुरुषको अत्यन्त दुर्लभ बतलाया है।

यह जड-चेतनात्मक जगत् पुरुष (विष्णु) का ही स्वरूप है। वेद भी यही कहते हैं—

'पुरुष एवेदꣳसर्वम्।' (यजुर्वेद ३१ । १)

'छान्दोग्य उपनिषद्'में इस स्थावर-जङ्गम जगत्‌को ब्रह्मका ही स्वरूप बताया गया है—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' (३ । १४ । १)

भागवतमें भी यह स्पष्ट उल्लेख है कि जगत्‌के सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् प्रकट हैं—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(११ । २ । ४१)

'राजन्! यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी-समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के शरीर हैं। सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् प्रकट हैं। ऐसा समझकर वह, जो कोई भी उसके सामने आ जाता है—चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी—उसे अनन्यभावसे—भगवद्भावसे प्रणाम करता है।'

भगवान्‌के कहे गये उपर्युक्त वचनोंपर विचार करनेपर एक साधन और ध्यानमें आता है। वह यह है कि हमलोग इस जन्मको बहुत-से जन्मोंकी परम्परामें आखिरी जन्म मान लें। भगवान्‌ने कहा—**'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।'**

अर्थात् 'बहुत-से जन्मोंके अन्तिम जन्ममें ज्ञानवान् मुझको प्राप्त होता है ।' यहाँ 'अन्तिम' जन्म—'जन्मनामन्ते' कहनेका क्या तात्पर्य है ? चौरासी लाख योनियोंके बाद जो यह मनुष्य-शरीर हमें मिला है, यही आखिरी जन्म समझना चाहिये । इस मनुष्य-जन्मको पाकर भी यदि हमलोगोंका कल्याण न हो तो बड़ी ही लज्जाकी बात है । भगवत्प्राप्तिके योग्य यदि हम नहीं होते तो भगवान् हमें मनुष्य-योनिमें जन्म ही क्यों देते ? भगवान् चाहते तो हमलोगोंको गधा, कुत्ता, बंदर, कौआ, तोता आदि किसी भी तिर्यग्योनिका शरीर दे देते; हमलोगोंको कोई भी जन्म देनेमें उनकी स्वतन्त्रता थी; पर भगवान्ने अपनी इच्छासे हमलोगोंको मनुष्य बनाया । इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् इस जन्मको आखिरी जन्म मानते हैं । अतएव इस जन्मको हमें भी आखिरी जन्म मान लेना चाहिये । ऐसा विश्वास कर लेनेपर बहुत जल्दी काम बन सकता है; क्योंकि विश्वास ही फलदायक होता है ।

* * *

जगत्में जो कुछ भी हो रहा है—यह सब भगवान्की लीला हो रही है—इस प्रकारका भाव बनाये रखनेमें बड़ा लाभ है । इस प्रकारके भावमें हमें न तो कुछ परिश्रम करना पड़ता है, न किसी प्रकारके खर्चकी ही आवश्यकता है । अतएव ऐसा भाव करके जड-चेतनरूप जगत्की जो भी क्रियाएँ हो रही हैं, उन सबको देख-देखकर खूब प्रसन्न होना चाहिये कि 'भगवान् इन रूपोंमें लीला कर रहे हैं ।' सिनेमा-घरमें जाकर लोग पर्देपर लीला देखते हैं; वह मनुष्यकी बनायी हुई लीला है—बनावटी है; लेकिन जगत्में जो यह सब कुछ दैवेच्छासे हो रहा है, यह भगवान्की लीला है; इसे भगवान्की वास्तविक लीला समझकर आनन्दमग्न रहना चाहिये । जिसका जगत्के प्रत्येक व्यापारमें भगवल्लीलाका भाव हो जाता है, उसके अन्तःकरणसे राग-द्वेषका अभाव हो जाता है । राग-द्वेषका अभाव होनेपर काम एवं क्रोध अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि राग-द्वेषके कारणसे ही काम-क्रोधकी उत्पत्ति होती है । राग-द्वेषके अभाव होनेपर ईर्ष्या-भय आदि मनोविकारोंका भी नाश हो जाता है और अन्तःकरण शुद्ध होनेपर उसमें भगवान् आ विराजते हैं । इसलिये जगत्की प्रत्येक चेष्टामें भगवान्की लीलाका भाव रखना बहुत ही दामी चीज है ।

* * *

गङ्गाजीका हमारे शास्त्रोंमें बहुत माहात्म्य वर्णित है । हमारा भी विश्वास है कि उन गङ्गाकी शरण जानेपर बहुत शीघ्र उद्धार हो सकता है । वे भगवान्के श्रीचरणोंकी धोवन हैं । अतएव गङ्गाजलमें स्नान करनेसे मनुष्यके पापोंका क्षय होता है तथा निष्कामभावसे उसका सेवन करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है । हमलोग जो यहाँ (गीताभवन) सत्सङ्गके लिये आये हुए हैं, यह स्थान भगवती गङ्गाके तटपर है; अतएव प्रतिदिन हमलोग गङ्गामें स्नान करते हैं और उसका जल पीते ही हैं । अब यदि हम यह मान लें—दृढ़ विश्वास कर लें कि 'गङ्गा-स्नानसे, गङ्गाजल-पानसे मुक्ति हो जाती है' तो निश्चय ही हमारी मुक्ति हो सकती है । गङ्गा-स्नान करनेपर भी यदि हमारी मुक्ति नहीं होती तो इसमें हेतु हमारे विश्वासकी कमी है; अतएव हमलोगोंको ऐसा दृढ़ विश्वास कर लेना चाहिये कि 'हमने गङ्गा-स्नान कर लिया, अब हमारे उद्धारमें किसी भी प्रकारकी शङ्का नहीं है ।' इस प्रकारका विश्वास दृढ़ होनेसे वस्तुगुणका प्रभाव हमें अवश्य मिलेगा ।

उपर्युक्त सभी साधनोंमें भावकी ही प्रधानता है; उनमें न तो शारीरिक श्रम चाहिये और न किसी प्रकारका द्रव्य ही; केवल भावनासे ही ये परम फल देनेवाले हैं । (पुराने सत्सङ्गसे)

अपने वास्तविक स्वरूपका स्मरण करें

[पूज्यपाद योगिराज श्रीदेवरहवा बाबाका उपदेश]

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी एडवोकेट)

मनुष्य अपनेको भूल गया है। वह नहीं समझता कि वास्तवमें वह है कौन। वह तो यही मान बैठा है कि हाड़-मांसका पुतला ही वह है, अन्य कुछ नहीं। किंतु वास्तवमें मनुष्य चैतन्य आत्मा है, वह केवल हाड़-मांसका पुतला नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासने कहा है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥

(मानस ७। ११६। १-२½)

यही ईश्वर और मनुष्यका सम्बन्ध है। हमलोग मायामें पड़कर अपने वास्तविक स्वरूपको भूल गये हैं। हम चैतन्य आत्मा हैं, इसकी स्मृति होती ही नहीं। जितना ही इस विषयको समझाया-बुझाया जाता है, उतनी ही यह समस्या जटिल होती जाती है—

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥

(मानस ७। ११६। ३)

वेद और पुराणोंमें अनेकानेक उपाय बताये गये हैं कि किस प्रकार जीव बन्धनसे छूटे; परंतु उसे जितना ही यह कहा जाता है, वह उतना ही अधिक बन्धनोंमें उलझता जाता है। उसका उद्धार कैसे हो, इस सम्बन्धमें गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(७। १४)

'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो मेरी शरणमें आते हैं—मुझे ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको पार कर जाते हैं।'

भाव यह है कि जो भगवान्की शरणमें आते हैं, उनके चरणारविन्दमें सतत अनुराग रखते हैं—'आठ पहर चौसठ घड़ी चढ़ा रहै अनुराग'—वे ही इस दुस्तर मायाको पार कर सकते हैं।

मायाका पर्दा हटना ही जीव और ब्रह्मकी एकता है। इस मायाके पर्देको हटानेके लिये एक सरल साधन यह भी है कि मनुष्य अपनी इच्छा कुछ न रखे; सदा यही माने कि भगवान्की जो इच्छा हो, वही पूर्ण हो। माया-यन्त्रपर सभी चढ़े हुए हैं; जैसे यह माया-यन्त्र नचाता है, वैसा ही नाच नाचना पड़ता है; लेकिन जिसने इस माया-यन्त्रको छोड़ दिया और मायापति भगवान्को पकड़ लिया—भगवान्के शरणागत हो गया, वह मायासे मुक्त हो गया। आरम्भमें माया-यन्त्रको छोड़नेका अभ्यास करना पड़ता है। पीछे जब मायाका प्रभाव कम हो जाता है, तब स्वाभाविकरूपसे प्रत्येक कार्य भगवान्के इच्छानुसार होने लगता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(८। १६)

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले अर्थात् जिनको प्राप्त होकर पीछा संसारमें आना पड़े, ऐसे हैं; परंतु हे कुन्तीपुत्र! मुझको प्राप्त होकर उसका पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि मैं कालातीत हूँ और यह सब ब्रह्मादिकोंके लोक काल करके अवधिवाले होनेसे अनित्य हैं।'

मर्त्यलोकसे लेकर ब्रह्मलोक-तकके सुख-ऐश्वर्य प्राप्त करनेपर भी जीवके गिरनेका भय बना रहता है, लेकिन जो सुखोंके स्रोत, ऐश्वर्यके निधि सच्चिदानन्द भगवान्को

प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें कभी गिरनेका भय नहीं रहता। जो भगवान्‌का सतत स्मरण करनेवाले हैं, जिनके समस्त कार्य भगवान्‌के लिये होते हैं, जिन्हें अपनी कोई इच्छा नहीं, ऐसे व्यक्तियोंको भगवान् अपने परमधाममें ले लेते हैं, जहाँ पहुँचकर वे पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होते। वहाँसे पुनः गिरनेका कोई भय नहीं होता। अपने परमधामके वर्णनमें गीतामें भगवान् कहते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
(१५।६)

'उस स्वयं प्रकाशमय परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और अग्नि ही प्रकाशित कर सकते हैं तथा जिस परमपदको प्राप्त होकर मनुष्य पीछे संसारमें नहीं आते हैं, वही मेरा परमधाम है।'

गीताके आठवें अध्यायके २१वें श्लोकमें भगवान्‌ने परमधामका स्वरूप बतलाया है—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

'जो वह अव्यक्त, अक्षर ऐसे कहा गया है, उस ही अक्षर नामक अव्यक्तभावको परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य पीछे नहीं आते हैं, वह मेरा परमधाम है।'

वास्तवमें परमात्माका मधुर मिलन ही परमधाम है। परमात्माके बिना संसार दुःखोंका घर है। जो अपने कर्मोंसे भगवान्‌में मिल गया, उसका पुनरागमन नहीं होता। जैसे नमकका बना हुआ हाथी यदि समुद्रमें डाल दिया जाय तो वह पुनः लौटकर नहीं आ सकता, ठीक यही दशा उन संत-महात्माओंकी है, जो अपने शुद्ध अन्तःकरणसे भगवान्‌के समीप पहुँचकर भगवान्‌के साथ एकरूप हो जाते हैं। उनका जन्म-मरणका क्रम समाप्त हो जाता है। यही भगवत्-मिलन ही भगवान्‌का परमधाम है।

संसारमें बहुत-से ऐसे व्यक्ति हैं, जो भगवान्‌से सम्बन्ध स्थापित करनेको कोई महत्त्व नहीं देते। वे जागतिक दृष्टिसे बड़े-बड़े व्यक्तियोंसे सम्पर्क स्थापित करनेमें ही अपना गौरव समझते हैं। यदि किसीका अपने देशके किसी बड़े अधिकारीसे—जैसे राष्ट्रपति या प्रधानमन्त्रीसे कुछ सम्पर्क हो जाय तो वह इसमें अपना विशेष गौरव मानता है और अपनेको बड़ा भाग्यशाली समझता है तथा अभिमानमें फूला नहीं समाता। किंतु परमात्माके सम्बन्धकी तुलनामें इन महान् व्यक्तियोंका सम्बन्ध कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। एक छोटे-से उदाहरणसे इसे समझें—कल्पना कीजिये कि आप राष्ट्रपतिके परम मित्र हैं, उनकी कृपासे राष्ट्रसे आपको सब प्रकारकी सहायता प्राप्त हो सकती है। अब कल्पना कीजिये कि आप किसी नदीमें स्नान कर रहे हैं और घड़ियालने आकर आपका पैर पकड़ लिया। उस समय राष्ट्रपतिके साथ आपकी मित्रता कोई काम नहीं आ सकती। जबतक राष्ट्रपतिको आपके घड़ियालद्वारा पकड़े जानेकी सूचना मिले और वे आपको बचानेकी कोई व्यवस्था कर सकें, तबतक घड़ियाल आपको समाप्त ही कर देगा। ऐसे ही समयमें यदि आप भगवान्‌का स्मरण करें तो वे आपको तत्काल बचा सकते हैं। भगवान् आपके परम सुहृद्—परम मित्र हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्।'** (गीता ५।२९) वे आपके स्मरणपर सदा उपस्थित रहनेवाले हैं। साथ ही वे सर्वसमर्थ हैं—कुछ भी उनकी सामर्थ्यके बाहर नहीं हैं। परंतु हमने तो भगवान्‌की उपेक्षा कर रखी है। माया-मोहमें पड़कर हम भगवान्‌का स्मरण भूल जाते हैं। यही हमारी सबसे बड़ी भूल है। इस भूलको हमें मिटाना है। मायामोहके चक्करमें पड़कर **'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।'** निश्चित है। धोबीके कुत्तेकी तरह हम न घरके हैं न घाटके। अतः हमलोगोंको अपनी मूढ़तापर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। यदि कुत्ता ही बनना है तो हमलोगोंको भगवान्‌का कुत्ता बनना चाहिये। कबीरदासजीने कहा है—

कबिरा कुत्ता रामका, मोतिया मेरा नाँव ।
गलेमें बाँधि जेवरी, जित खींचो उत जाँव ॥

यदि हमलोग अपनेको कुत्ता ही मानें तो कुत्ता उस भगवान्का मानें, जो हमारे गलेमें रस्सी बाँधकर जहाँ खींचता है, वहाँ हम जाते हैं। घर और घाटका कुत्ता बननेसे कहीं अच्छा है भगवान्का कुत्ता बनना। भगवान्का कुत्ता बननेका अभिप्राय यह है कि भगवान्की इच्छापर चलना, उनका भक्त बनना।

संक्षेपमें यही कहना है कि मायाके चक्करमें पड़कर हमने अपने वास्तविक स्वरूपको भुला रखा है, उसे स्मरण करें और अपनेको भगवान्की शरणमें डाल दें। मायापतिकी शरण ग्रहण करते ही माया अपना प्रभाव स्वतः हटा लेती है—यह नियम है। साथ ही भगवान्को अपना मानकर सदा उनका स्मरण करें। वास्तवमें वे ही हमारे वास्तविक रक्षक हैं, सहज स्नेही हैं। हम उनकी सुहृदताको समझें और अपनेको उसपर छोड़कर सदाके लिये निर्भय-निश्चिन्त हो जायँ।

एक महात्माका प्रसाद

शरीरके रहते हुए ही विचारपूर्वक शरीरसे असङ्ग होना अनिवार्य है और यही वास्तविक आरोग्यता है। शरीरसे किसी भी कालमें जातीय सम्बन्ध नहीं है; केवल सेवा-कार्यके लिये। काल्पनिक सम्बन्ध है। जिससे काल्पनिक सम्बन्ध है, उसे कभी भी अपने लिये नहीं मानना चाहिये। शरीर न तो अपना है और न अपने लिये। इस वास्तविकताका अनुभव करें कि देहातीत जीवनमें किसी प्रकारका अभाव, पराधीनता एवं नीरसता नहीं है। इतना ही नहीं, देहातीत होनेपर ही योगी परम-तत्त्वसे, विवेकी निज-स्वरूपसे और प्रेमी प्रेमास्पदसे अभिन्न होते हैं। इस दृष्टिसे प्रत्येक साधकको देहाभिमानसे रहित होनेके लिये ज्ञानपूर्वक निर्मम (ममतारहित), निष्काम तथा असङ्ग होना अनिवार्य है। ज्ञानका प्रकाश और आस्थाका तत्त्व मानवको अपने रचयितासे स्वतःप्राप्त है। शरीर तो उसे केवल विश्वरूपी वाटिकाकी सेवा करनेके लिये मिला है, अपने लिये नहीं। अपने लिये तो निज-ज्ञान है, जिससे मानव जब चाहे, तब निर्विकारिता, शान्ति एवं स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है। स्वाधीन होनेपर ही आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक सर्व-समर्थ प्रभुसे आत्मीय सम्बन्ध सजीव होता है। आत्मीय सम्बन्धसे ही अखण्ड स्मृति एवं अगाध प्रियताकी अभिव्यक्ति होती है। अतः ज्ञानपूर्वक अनुभव करें कि विश्वमें मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये एवं भक्त-वाणीके आधारपर आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक स्वीकार करें कि प्यारे प्रभु मेरे अपने हैं, अपनेमें हैं, अभी हैं। अपने होनेसे अपनेको अत्यन्त प्रिय हैं और अभी होनेसे वर्तमानमें ही प्राप्त हो सकते हैं तथा अपनेमें होनेसे किसी प्रकारके श्रमसाध्य उपायकी अपेक्षा नहीं है। जो विश्वासी साधक सब प्रकारसे प्रभुके होकर रहते हैं और वर्तमान कर्त्तव्य-कर्मके द्वारा उन्हींकी पूजा करते हैं, वे उन्हींमें वास पाते हैं—यह अनुभवसिद्ध सत्य है। जिस जीवनकी वर्तमानमें उपलब्धि हो सकती है, उसके लिये भविष्यकी आशा करना भारी भूल है, जिसका साधकके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। प्रभुसे भिन्न किसी औरकी वर्तमानमें उपलब्धि हो ही नहीं सकती। कारण, वर्तमानमें उन्हींकी प्राप्ति होती है, जो सदैव, सर्वत्र, सभीके हैं। इस वास्तविकतामें अविचल आस्था करें। प्रभुविश्वास ही एकमात्र प्रभुप्राप्तिका अचूक उपाय है; पर यह रहस्य वे ही साधक जानते हैं, जिन्होंने विचारपूर्वक अन्यविश्वास, अन्य-सम्बन्धका त्याग कर आस्थापूर्वक प्रभु-विश्वास तथा प्रभु-सम्बन्धको अपनाया है। आस्था

आस्थावान्‌से ही प्राप्त होती है, अर्थात् प्रभुविश्वासियों-की ही देन है। एक-एक विश्वासी साधकसे अनेकों व्यक्तियोंको विश्वास प्राप्त होता है। पर सबसे पूर्व प्रभुविश्वास प्रभुकी अहैतुकी कृपासे ही प्राप्त हुआ होगा। जो साधक ज्ञानपूर्वक जगत्‌के विश्वाससे मुक्त हो जाते हैं, उनके जीवनमें भी प्रभुविश्वासकी अभिव्यक्ति होती है। जगत्‌का विश्वास, जो विवेक-विरोधी है, प्रभुविश्वासमें बाधक है, जगत् नहीं। बेचारा जगत् तो सदैव प्रभुकी ओर अग्रसर होनेके लिये प्रेरणा देता रहता है। जगत् जिनकी रचना है, वे अपने हैं, जगत् अपना नहीं है। जो अपना नहीं, उसके प्रति उदार होना अनिवार्य है; पर जो अपने हैं, उनका प्रेमी होना अनिवार्य है। जो प्रभुका प्रेमी है, वह स्वभावसे ही जगत्‌के प्रति उदार हो जाता है और जो उदार है, वह प्रेमी होनेका अधिकारी हो जाता है। उदार तथा प्रेमी होनेके लिये स्वाधीन होना अनिवार्य है। स्वाधीन होनेके लिये ही मानवको ज्ञानका प्रकाश बिना माँगे ही मिला है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मानवके रचयिताका संकल्प है कि मानव उदार तथा प्रेमी हो जाय। अपने रचयिताके संकल्पमें अपने सभी संकल्प विलीन करना वास्तविक शरणागति है। शरणागतकी सभी समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं—यह शरणागतोंका अनुभव है। बिना जाने गुरु-वाक्यके आधारपर प्रभुके अस्तित्व और महत्त्व एवं उनमें अपनत्व स्वीकार करना विश्वासी साधकके लिये महामन्त्र है।

* * * *

किसीकी भी शारीरिक दशा कहनेमें नहीं आ सकती; क्योंकि कथन उसका हो सकता है, जो एक-सा रहे। इस सरायमें रोगरूपी मुसाफिर तो ठहरे ही रहते हैं। वास्तवमें तो जीवनकी आशा ही परम रोग और निराशा ही आरोग्यता है। देह-भावका त्याग ही सच्ची औषध है।

* * * *

साधारण मनुष्य और विचारशील मनुष्यमें यही अन्तर है कि विचारशील मनुष्य तो जिस चीजको जिस प्रकार जानते हैं, उसको उसी प्रकारका मानते हैं और साधारण मनुष्य कुछ दिन बाद उस वस्तुके ज्ञानके विपरीत क्रिया करने लगते हैं। यह अनुभव-सिद्ध है कि यह क्षणभङ्गुर शरीर अधिक विश्वासके योग्य नहीं है; क्योंकि ऐसी घटनाएँ प्रतिदिन देखने और सुननेमें आती हैं कि थोड़े ही समयमें कुछ-का-कुछ हो जाता है। इतना ही नहीं, हर श्वास कालके गालमें जा रहा है, किंतु अज्ञानके कारण हमारी दृष्टि उसपर नहीं रहती। विचारशील मनुष्यकी दृष्टिमें तो यह सारा संसार कालरूपी अग्निमें हर समय जलता हुआ नजर आता है और इससे बचनेके लिये अर्थात् मृत्युपर विजय प्राप्त करनेके लिये वह निरन्तर प्रयत्न करता है। और जो वस्तु विश्वास करनेके योग्य नहीं, उसपर वह विश्वास नहीं करता एवं जो विश्वासके योग्य है, उसपर विश्वास करता है, उससे ही प्रेम करता है। और जिससे प्रेम करता है, उसका ही चिन्तन करता है और जैसा चिन्तन करता है, वही उसका स्वरूप बन जाता है।

सच्चिदानन्दघन आत्मापर पूरा विश्वास तथा उससे ही अनन्य प्रेम और उसमें ही संतुष्ट हो नित्य आनन्द प्राप्त करना चाहिये। विश्वास और प्रेम प्रत्येक मनुष्यमें स्वाभाविक हैं; क्योंकि हर मनुष्य किसी-न-किसीपर विश्वास तथा प्रेम अवश्य करता है; यह प्रत्येक मनुष्यके अनुभवसे सिद्ध है। एक छोटा-सा बालक भी, जब वह अबोध अवस्थामें होता है, अपनी मातापर विश्वास तथा उससे प्रेम करता है। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है, जो किसी-न-किसीपर विश्वास न करता हो, परंतु अज्ञानके कारण अनित्य वस्तुओंपर विश्वास करनेवाला कभी नित्यानन्द नहीं प्राप्त कर सकता।

* * * *

दुःखकी प्राप्ति एकमात्र मङ्गलमय विधानसे ही होती

है । सुखका चला जाना और दुःखका आ जाना, इस विधानसे भी मानव भलीभाँति परिचित है, पर विधानका आदर न करनेसे सुखका जाना और दुःखका आना उसको रुचिकर नहीं होता । जिन्होंने विधानका आदर किया है, वे मानव यह भलीभाँति अनुभव करते हैं कि सर्वतोमुखी विकासके लिये सुखका जाना और दुःखका आना अनिवार्य है । सामर्थ्यका सदुपयोग करनेपर जो विकास होता है, असमर्थ होनेपर भी वही विकास होता है—यह कैसा विचित्र विधान है, जिसमें समर्थ और असमर्थ दोनोंका ही हित निहित है । सामर्थ्यके दुरुपयोगका परिणाम यदि रोग और शोक न होता तो न जाने कितना भयंकर विप्लव हो जाता । यदि जन्मके साथ मृत्यु, संयोगके साथ वियोग, उत्पत्तिके साथ विनाश और प्रवृत्तिके साथ असमर्थता न होती तो न जाने मानव-समाजकी कितनी भयंकर दुर्दशा हो जाती।

❁ ❁ ❁

अपनी विचार-दृष्टिसे देखें कि आप अपने लिये क्या चाहते हैं, अर्थात् किसके प्राप्त करनेपर किसी भी प्रकार-की कमी नहीं रहेगी—पूर्णता प्राप्त हो जायगी । इसका भलीभाँति निश्चय करना ही जीवनका परम लक्ष्य कहा जाता है । जो चाहते हो, जबतक वह प्राप्त न हो, तबतक प्राप्त न होनेका दुःख लगातार बढ़ता रहना चाहिये; यहाँतक कि वह किसी प्रकारसे भी सहन न हो । ऐसा होनेपर जो चाहते हो, वह अवश्य प्राप्त होगा—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है; परंतु चाह सच्ची होनी चाहिये । सच्ची चाह होनेपर ही उसके पूरे न होनेका दुःख इस प्रकार होता है कि वह सहन नहीं होता। जीवनकी सारी क्रियाएँ एक ही लक्ष्यके लिये होनी चाहिये; क्योंकि यही सचाई है । क्रियाएँ स्वरूपसे देखनेमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी भले ही हों, परंतु उन सबका लक्ष्य एक होना चाहिये, यह भलीभाँति समझनेकी बात है । ऐसा होनेपर सारा जीवन लक्ष्यकी पूर्तिका साधन बन जाता है, जिससे जीवन-यात्रा सुलभ तथा सरल हो जाती है और लक्ष्यकी पूर्ति अवश्य होती है ।

लक्ष्य एक ही सच्चा होता है । क्रियाओंमें अनेकता होती है, लक्ष्यमें नहीं । इसलिये क्रियाओंको लक्ष्य कभी न समझें, बल्कि क्रियाओंके अन्त होनेपर लक्ष्यपर सदैव दृष्टि रखें और जबतक लक्ष्य न प्राप्त हो, चैनसे न रहें ।

❁ ❁ ❁

वही पुरुष उन्नति कर सकता है, जो देहाभिमानको त्यागकर अपनी अन्तरात्मापर पूरा विश्वास करता है । किंतु आत्मापर विश्वास उस मनुष्यका होता है, जिसके मनपर लेशमात्र भी स्वार्थके भाव नहीं होते, अर्थात् शरीरके आरामके लिये जो किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं करता । इतना ही नहीं, जो प्राप्त होता हो, उसे भी सुख-बुद्धिसे स्वीकार नहीं करता । ऐसे धर्मात्मा विचारशील पुरुषके लिये संसारमें कोई भी कार्य करना कठिन नहीं है। ऐसे मनुष्योंका जीवन संसारमें नित्य आनन्द प्राप्त करनेके योग्य होता है, जिसको पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रहता । परंतु इसके लिये हर समय प्रेमपूर्वक आँसुओंके मोती विचार-रूपी थालीमें रखकर प्रभुको भेंट करने होंगे ।

पुरुषार्थी: शरणागत

एक बार एक पिता अपने दो छोटे बच्चोंके साथ कहीं जा रहा था । एक बच्चेको वह गोदमें लिये था और दूसरा बच्चा अपने पिताकी उँगली पकड़े पैदल चल रहा था । बच्चोंने आकाशमें उड़ती हुई एक पतंग देखी । पैदल चलनेवाले बच्चेने पिताकी उँगली छोड़ दी और खुशीसे तालियाँ बजाने लगा । उसने कहा—'देखिये, पिताजी ! पतंग !' इतनेमें वह ठोकर खाकर गिर पड़ा । गोदवाले बच्चेने भी खुशीसे तालियाँ बजायीं, परंतु वह गिरा नहीं; क्योंकि वह अपने पिताकी गोदमें था । आध्यात्मिक जीवनमें पुरुषार्थी पहले बच्चेके समान होता है और शरणागत दूसरेके समान ।

—श्रीरामकृष्ण परमहंस

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृतवचन]

यही तो प्रेमका सीधा पथ है

अपने लिये अपनेको देखना है । कोई कुछ भी कहे, कुछ भी करे, अपना पवित्र सम्बन्ध नित्य-निरन्तर अपने भगवान्‌से बना रहे । उनकी मधुर स्मृति तथा उनके अपनत्वकी नित्य अनुभूति होती रहे । बस, इसीमें अपना परम लाभ है । अपनेको अपने प्रभुकी मानसिक सेवासे ही अवकाश नहीं मिलना चाहिये—

हटे वह सामनेसे, तब कहीं मैं अन्य कुछ देखूँ ।
सदा रहता बसा मनमें तो कैसे अन्यको लेखूँ ॥
उसीसे बोलनेमें ही मुझे फुरसत नहीं मिलती ।
तो कैसे अन्य चर्चाके लिये, फिर जीभ यह हिलती ॥
सुनाता वह मुझे मीठी रसीली बात है हरदम ।
तो कैसे मैं सुनूँ किसकी, छोड़ वह रस मधुर अनुपम ॥
समय मिलता नहीं मुझको, टहलसे एक पल उसकी ।
छोड़कर मैं उसे, कैसे करूँ सेवा कभी किसकी ॥
रह गयी मैं नहीं कुछ भी, किसीके कामकी हूँ अब ।
समर्पण हो चुका मेरा जो कुछ भी था, उसीके सब ॥

अपनेको तो ऐसा ही बनना है । यही तो प्रेमका सीधा पथ है । फिर साधनकी दृष्टिसे भी दूसरेकी ओर न देखकर हमें अपनी ही ओर देखना है । इसीमें अपना लाभ है ।

कुछ आवश्यक परामर्श

इन बातोंपर ध्यान दीजिये और जो करनेकी चीज है, वह कीजिये—

(१) भगवान् सर्वत्र हैं और मनुष्य अपने भावसे सर्वत्र ही उनकी अनुभूति और स्मृति कर सकता है ।

(२) भगवान् ही सबके अकारण सुहृद् और परम मङ्गल करनेवाले हैं । उनकी कृपापर विश्वास रखकर उन्हींके प्रति आत्मसमर्पण करना चाहिये । उनकी कृपासे सब प्रकारके विघ्नोंका नाश और उनकी ओर आगे बढ़नेका मार्ग प्रशस्त होता है ।

(३) अपनेको निरन्तर भगवान्‌का ही मानिये और केवल भगवान्‌को अपना मानिये । यह सर्वोत्तम साधन है ।

(४) भगवान्‌के श्रीचरणोंका स्मरण करते रहिये और उनकी कृपापर विश्वास रखिये ।

(५) श्रीभगवान्‌का स्मरण करते हुए सारे कार्य उनके प्रीत्यर्थ ही करते रहना चाहिये ।

'नारायण'का स्मरण मङ्गलमय है

'नारायण' शब्द प्रभुका बड़ा मङ्गलमय नाम है। श्रीमालवीयजी महाराज कहा करते थे कि 'नारायण' शब्दका उच्चारण करते हुए यात्रा आरम्भ करनेसे यात्रा सफल हो जाया करती है, विघ्न मिट जाते हैं। दूसरा कोई प्रणाम करे या चरणस्पर्श करे तो उसे भगवान् नारायणका स्वरूप समझकर नारायणकी भावनासे 'नारायण' शब्दका उच्चारण करते हुए मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये। ऐसा करना बहुत अच्छा है। आप श्रीनारायणके चरणोंकी स्मृति बनाये रखनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं, सो आपकी यह प्रार्थना अवश्य ही बड़ी मङ्गलमयी है। भगवान् सच्ची प्रार्थना सफल करते ही हैं।

असली स्वस्थता

असली स्वस्थता अपने अभिन्नस्वरूप भगवान्में स्थित रहनेमें ही है। जगत्में, प्रकृतिमें स्थिति ही अस्वस्थता है। अतएव जो भगवान्में स्थित हैं, उनके सिवा सभी अस्वस्थ हैं। यही स्वास्थ्यका ठीक रहना है। तुम इसी स्वस्थताकी स्थितिमें रहो; सदा रहो। क्षणभरके लिये भी भगवान्से अलग होकर जगत्में रहनेका कभी संकल्प ही न हो। नित्य-निरन्तर अबाधरूपसे भगवान्का मधुर मनोहर आत्मरूप सम्पर्क रहे। प्रत्येक अङ्गको—रोम-रोमको, मन-बुद्धिकी अत्यन्त सूक्ष्मतम भूमिको भी उनका नित्य संस्पर्श प्राप्त होता रहे।

शरीरसे भगवत्सेवाका जितना काम लिया जाय, ले लेना चाहिये

मेरे शरीरके लिये इतनी चिन्ता क्यों ? शरीरका, इन्द्रियोंका आराम मनुष्यके वास्तविक जीवनका पतन कर देता है। इनका तो सुखपूर्वक निग्रह ही करना चाहिये। शरीरके आरामकी जितनी चाह बढ़ेगी, उतना ही दुःख, पराधीनता और परावलम्बन बढ़ेगा। इसलिये मेरे हितकी दृष्टिसे तुमको भी यही चाहिये कि तुम मेरे शरीरके आरामकी चिन्ता न करके आत्माके आरामकी चिन्ता किया करो। तुम मेरे शरीरके लिये जो चाहते हो, यह भी निश्चय ही तुम्हारे पवित्र हृदयकी मङ्गलमयी आत्मीयता है। इसका मेरे हृदयमें बड़ा आदर है; पर यथार्थ आराम तो आत्माका ही है। शरीर नष्ट होनेवाला पाँच भूतोंका पिण्ड है। इसकी क्या महत्ता है। इससे तो भगवत्सेवाका जितना काम लिया जाय, ले लेना चाहिये। इसको जहाँ आराम दिया जाय, वहाँ भी भगवत्सेवाकी ही प्रत्यक्ष भावना रहे।

सांसारिक हानि-लाभ प्रारब्धसे मिलता है

मनुष्यका अपना स्वभाव होता है और वह प्रत्येक वस्तुको अपनी आँखसे देखता है। जहाँतक बने, चेष्टा ऐसी रखनी चाहिये कि हम जिसके साथ काम कर रहे हैं, उसका अधिक-से-अधिक आदेश पालन करें और उसके अनुकूल चलें। जहाँपर पाप स्वीकार करना पड़ता हो, वहाँपर उतने अंशमें उनका समर्थन न करके अन्य चीजोंका तो समर्थन करना ही चाहिये। यही नीति है। रही दोषकी बात, सो भगवान्के सामने मनुष्यको सदा सच्चा रहना चाहिये। सांसारिक हानि-लाभ पूर्व-जन्मार्जित कर्मोंके अनुसार बने हुए प्रारब्धसे मिलते हैं। उसे बदलना बहुत कठिन है; न तो हम स्वयं उचित-अनुचित बर्ताव करके उसे बदल सकते हैं, न दूसरे ही हमारे साथ न्याय-अन्यायका बर्ताव करके बदल सकते हैं। दूसरेके द्वारा अपना अहित होता देखकर तो यह समझना चाहिये कि वह व्यक्ति केवल निमित्त है, मेरा अहित मेरे कर्मवश

हुआ है; पर मेरा अहित चाहकर उसने अपना अहित कर लिया है, भगवान् उसे क्षमा करें। और अपने मनमें कभी किसीके अहित करनेकी कल्पना आये तो यह सोचना चाहिये कि उसके प्रारब्धके बिना उसका अहित करना मेरे लिये असम्भव है, परंतु उसका अहित सोचकर मैं अपना अहित अवश्य कर रहा हूँ। अतएव अपने अहितसे बचना चाहिये।

सत्यके पक्षमें रहनेवालेको तपस्या करनी पड़ती है

वर्तमान युगमें मनुष्यका चारित्रिक पतन हो गया है। इस अवस्थामें सचाईका और न्यायका आदर करनेवाले बहुत कम लोग रह गये हैं; किंतु अन्तमें तो सत्यकी ही विजय होती है। हाँ, पूर्ण सत्यके पक्षमें रहनेवालेको कुछ तपस्या भी करनी पड़ती है। हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर इसके उदाहरण हैं।

भगवान्‌की कृपाका ही अनुभव करें

भगवान्‌की कृपाका नित्य-निरन्तर अनुभव करते रहना चाहिये। भगवान्‌की कृपा अनुपम, अनन्त और सार्वभौम है। उनकी कृपाका जितना ही अनुभव किया जाय, उतना ही उससे अधिक लाभ मिलता है।

हम उनके, वे सदा हमारे, परमानन्द-सुधा-सागर !

तुम अत्यन्त प्रसन्न रहना। सदा ऐसा विश्वास रखना चाहिये कि मेरे विषादादि कुछ बचे ही नहीं हैं। बस, इस पदके भावोंको अपने जीवनमें अनुभव करना चाहिये—

हम उनके, वे सदा हमारे, परमानन्द-सुधा-सागर।
सदा हृदयमें रखते हमको परम मधुर वे नटनागर॥
रहते सदा हमारे उरमें करते विविध स्वयं नित खेल।
हो कुछ भी, कैसे भी जगमें, उनका हमसे रहता मेल॥
देते रहते वे हमको निज सहज अमित आनन्द उदार।
आ सकती विषादकी छाया, कभी न कुछ भी किसी प्रकार॥
दुःखयोनि भोगोंका भी रहा न जीवनमें संश्लेष।
भगवत्-रससे रसित तनिक भी बचा न देश-काल-अवशेष॥

(अप्रकाशित पुराने पत्रोंसे)

'लाज राखौ गिरिधारी !'

अब की टेक हमारी लाज राखौ गिरिधारी।
जैसी लाज रखी पारथ की भारत जुद्ध मँझारी।
सारथि है के रथ कौं हाँक्यौ, चक्र सुदरसन-धारी॥
भक्त की टेक न टारी॥ अब की० ॥ १ ॥
जैसी लाज रखी द्रौपदि की होन न दीन्हि उघारी।
खैंचत-खैंचत दोउ भुज थाके, दुस्सासन पचि हारी॥
चीर बढ़ायो मुरारी॥ अब की० ॥ २ ॥
'सूरदास' की लज्जा राखौ, अब को है रखवारी।
राधे-राधे, श्रीवर-प्यारी, श्रीबृषभान-दुलारी॥
सरन तकि आयौ तुम्हारी॥ अब की० ॥ ३ ॥

—सूरदास

आनन्द-प्राप्तिका उपाय

(स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका प्रवचन)

मानवमात्र आनन्द और शान्ति चाहता है। एक विशेष बात है—महान् शान्ति, महान् आनन्द जीवमात्रको स्वतः प्राप्त है; फिर भी जीवमें इच्छा होती है—शान्तिकी, परमानन्दकी, महान् सुखकी। इतना ही नहीं, सभी चाहते हैं कि उनका सुख सदा बना रहे, बड़े-से-बड़ा सुख उन्हें प्राप्त हो। जीवके अंदर सुख-प्राप्तिकी जो इच्छा है, वह स्वाभाविक है, बनावटी नहीं। सांसारिक पदार्थोंकी इच्छा बनावटी होती है, वास्तविक नहीं। मान-सत्कारकी, बड़ाईकी, नीरोगताकी, बलकी तथा इसी प्रकारकी जो और इच्छाएँ होती हैं, वे जीवकी अपनी नहीं होतीं। मनुष्य अधिक-से-अधिक पदार्थोंके संग्रहमें ही अपनेको सुखी मानता है। विषयोंके भोग और संग्रहमें ही प्रायः मनुष्य उलझे रहते हैं। हम सभी चाहते हैं कि सांसारिक वस्तुओंका संग्रह हमारे पास हो जाय—ऐसे कपड़े, ऐसे गहने, ऐसे मकान, ऐसी सामग्री हमारे पास हो जाय, अधिक-से-अधिक हो जाय, हम सुखभोग अधिक-से-अधिक कर लें—व्यक्तियोंसे, वस्तुओंसे, पदार्थोंसे, समुदायसे, जनतासे; हमें अधिक-से-अधिक सुख-सम्मान प्राप्त हो। जीवनमें और मरनेके बाद भी हमें वाह-वाही मिले। हमें प्रचुर भोग मिलें, आराम मिले, सुख मिले। इस प्रकार हमारे अंदर दो प्रकारकी इच्छाएँ होती हैं—एक तो वस्तुओंके संग्रहकी और दूसरी वस्तुओंसे सुख भोगनेकी। ये दोनों प्रकारकी इच्छाएँ वास्तवमें स्वयं मनुष्यकी नहीं होतीं; ये होती हैं शरीरको लेकर। शरीरको लेकर ही नहीं—इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि जो प्रकृतिके कार्य हैं, उन सबको लेकर ये इच्छाएँ होती हैं। जीव परमात्माका साक्षात् अंश है; उसकी अपनी इच्छा परमात्माको प्राप्त करनेकी है। उस महान् आनन्दको, जो परमात्मामें है, जिससे बढ़कर कोई आनन्द हो ही नहीं सकता तथा जिस आनन्दका अभाव कभी हो ही नहीं सकता, उस आनन्दको प्राप्त करनेकी इच्छा मूलतः जीवमें होती है। परंतु जीव अपनेको शरीर, इन्द्रियाँ एवं अन्तःकरणसे पृथक्‌रूपमें अनुभव नहीं कर पाता। इसीलिये वह इच्छा करता है इन पदार्थोंकी; क्योंकि शरीरके साथ पदार्थोंका ही संयोग होता है। वह अनुभव करता है कि यह शरीर मैं हूँ, अथवा यह शरीर मेरा है; इस रूपमें वह उसके साथ ममताका सम्बन्ध मानता है। इन दो बातोंको लेकर वह संसारके भोगोंकी और ऐश्वर्यकी इच्छा करता है। परंतु 'शरीर मैं हूँ'—यह बात यथार्थ नहीं है। आप-हमसब देखते हैं कि हम सबका शरीर प्रतिक्षण बदलता रहता है। कभी वह रोगी होता है, कभी नीरोग। पहले वह बच्चा था, फिर जवान हो जाता है और फिर बूढ़ा। कभी वह बलवान् होता है, कभी निर्बल; कभी वह सुन्दर दीखता है, कभी असुन्दर—इस प्रकार वह निरन्तर बदलता रहता है। परंतु उसके अंदर रहनेवाला जीवात्मा निरन्तर यही अनुभव करता है—'मैं स्व ं वही हूँ।' वह शरीर छोड़कर चला जाता है, लाश वहीं पड़ी रहती है। इससे सिद्ध हो जाता है कि जो शरीरको छोड़कर चला जाता है, उसके साथ शरीरकी एकता नहीं है। यदि शरीर जीवका स्वरूप होता तो मरनेके बाद जीवके साथ शरीर भी चला जाता। अतः जीव न तो मृत्युके बाद शरीरके साथ यहाँ बना रहता है और न वह जाता हुआ शरीरको साथ लेकर जाता है—यह सबके अनुभवकी बात है। इसलिये शरीर और जीव दो हैं, एक नहीं। अतः यदि जीव अपनेको शरीर मानता है, तब भी वह भूल करता है और यदि वह शरीरको अपना मानता है, तब भी उसकी यह मान्यता गलत है। शरीर ही मैं हूँ, यह बात नहीं है और शरीर मेरा है, यह बात भी नहीं है। शरीर यदि मेरा होता तो उसपर मेरा वश चलता। यदि हम शरीरके साथ जब जो कुछ भी करना चाहें, कर सकते—जैसे उसे रखना चाहें, जितने दिन रखना चाहें, रख सकते, तब तो शरीर हमारा होता। जब उसके साथ हम मनमानी नहीं कर सकते, उसे अपने इच्छानुसार रख नहीं सकते, तब शरीर हमारा कैसे हुआ! जो स्वेच्छासे शरीरके साथ तादात्म्य करके शरीरके सुखसे सुख मानता है, वह वास्तवमें अपने स्वरूपगत सुखका अनुभव न करके शरीरके सुखसे ही अपनेको सुखी अनुभव करता है।

शरीरके साथ अपनी एकता मानना ही भ्रम है। भोगोंकी प्राप्तिसे मैं सुखी हो जाऊँगा—यह आशा ही भ्रममूलक है। भोग और ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी इच्छा जीवमें तभी होती है, जब वह इस बातको भूल जाता है

कि भगवान् उसके अपने हैं; वह स्वयं शुद्ध आनन्दस्वरूप है। मूलतः 'मैं नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप हूँ तथा सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन परमात्मा मेरे हैं'—ये दो बातें भूल जानेसे ही भोग-पदार्थोंके संग्रहसे सुख प्राप्त करनेकी इच्छा हमारे मनमें जाग्रत् होती है। विषयोंके संग्रह और उनके उपभोगमें रचे-पचे रहनेके कारण ही हमलोग परमात्माकी ओर चलनेका निश्चय नहीं कर पाते और परमात्माकी ओर बढ़नेका निश्चय किये बिना ही जो साधन करता है, उससे उतने ऊँचे दर्जेका साधन नहीं हो पाता, जितना ऊँचा साधन ऐसा निश्चय करनेके पश्चात् होता है—श्रीमद्भगवद्गीता-के अध्ययनसे ऐसा पता चलता है। यह निश्चय होता है बुद्धिका। भगवान्ने गीतामें बुद्धिके निश्चयको बड़ा आदर दिया है। साधन करनेवाले, सत्सङ्ग करनेवाले, स्वाध्याय करनेवाले, विचार करनेवाले लोग शिकायत करते हैं कि उनका मन भगवान्में नहीं लगता और चाहते हैं कि वह भगवान्में लग जाय; परंतु भगवान् इससे भी विलक्षण बात कहते हैं। गीतामें दूसरे अध्यायमें भगवान्ने स्थितप्रज्ञकी महिमा कही है। जिसकी प्रज्ञा—बुद्धि स्थिर हो गयी है, उसे 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं। भगवान्ने चित्तवृत्तिके एकाग्र हो जानेकी इतनी महिमा नहीं गायी है, जितनी बुद्धिके स्थिर हो जानेकी, यद्यपि मन बुद्धिसे अलग नहीं रहता।

बुद्धिका स्थिर रहना क्या है? 'एक भगवत्प्राप्ति ही करनी है, भगवान्की ओर ही चलना है हमें'—इस प्रकारका निर्णय हो जानेपर मनुष्यका तत्काल कल्याण हो जाता है। लगता ऐसा है कि बुद्धिका ऐसा निर्णय हो जानेके बाद फिर साधन चलता है और साधनके परिपक्व हो जानेपर अन्तमें उद्धार हो जाता है। परंतु निश्चयके परिवर्तनकी ही स्वयं भगवान् और महात्मालोग भी बड़ी महिमा गाते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

'रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की ॥' (मानस १। २९। २½)

अपनी ओर चलनेके दृढ़ निश्चयको भगवान् जितना आदर देते हैं, उतना ध्यान वे हमारी अनन्त भूलों एवं पापोंकी ओर नहीं देते; क्योंकि जितने दुर्गुण-दुराचार हमने किये हैं, वे अपने स्वरूपके, अपनी स्थितिके विपरीत होकर किये हैं, परमात्मासे विमुख होकर किये हैं। वे हमने रास्तेपर चलते हुए नहीं किये हैं, कुमार्गपर चलकर किये हैं। वे हमारे अपने किये हुए नहीं हैं। किंतु परमात्माकी ओर चलनेका हमारा निश्चय अपना किया हुआ होता है। इसलिये भगवान् उसका विशेष आदर करते हैं। पापोंको करनेमें जीव स्वयं प्रवृत्त नहीं होता। उन्हें वह मन-बुद्धिके सहयोगसे और मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके कहनेमें आकर कर बैठता है; इसीलिये वे पाप हैं, अन्याय हैं, अत्याचार हैं, दुराचार हैं, बहुत दुर्गति करनेवाले हैं, नरकोंमें ले जानेवाले हैं, ८४ लाख योनियोंमें जन्म देकर दण्ड भुगतानेवाले हैं; परंतु ये सब होते हैं भूलमें। अपनी जो वस्तु है, अपनी जो स्थिति है, अपना जो अस्तित्व है, उसको भूलनेसे तथा मन-बुद्धि आदि प्राकृतिक साधनोंकी सहायतासे एवं प्राकृतिक पदार्थोंको महत्त्व देनेसे ही हमारे द्वारा पाप होते हैं। इसके विपरीत जब कोई भगवान्की ओर चलनेका निर्णय कर लेता है, तब चाहे यह निर्णय वह मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके द्वारा ही क्यों न करे—करनेवाला ठीक रास्तेपर है। इसलिये ऐसा निर्णय करते ही वह महान् पवित्र हो जाता है। घरसे हजारों मील दूर होनेपर भी यदि कोई अपना मुख अपने घरकी ओर कर लेता है तो वह ठीक रास्तेपर आ जाता है। घरकी ओर मुख करनेमात्रसे यद्यपि घरकी दूरीमें कोई अन्तर नहीं आता, फिर भी उसकी चाल, जो उसके घरके विपरीत दिशामें थी, वह तो बंद हो गयी। अब उसकी चाल उसके अपने घरकी ओर हो गयी। इसीलिये भगवान् श्रीरामने मानस (५। ४३। १) में कहा है—

'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥'

सतीने श्रीरामकी परीक्षाके लिये जब सीताका रूप धारण कर लिया, तब भगवान् शंकरने उन्हें त्याग दिया। किंतु दूसरे जन्ममें जब वे ही सती पार्वतीके रूपमें शंकरजीसे कहती हैं—'महाराज! मैं 'अब भगवान्की कथा सुनना चाहती हूँ', तब भगवान् शंकर 'धन्य-धन्य गिरिराज कुमारी!' कहकर उन्हें धन्यवाद देते हैं। वे इस बातपर प्रसन्न होते हैं कि पार्वतीने भगवान्की कथा सुननेकी इच्छा तो प्रकट की। जिनका उन्होंने पूर्वजन्ममें त्याग कर दिया था, उन्हींको वे दूसरे जन्ममें धन्यवाद देते हैं। कारण क्या था? कारण यही था कि अब वे ठीक रास्तेपर आ गयी थीं। सही रास्तेपर आनेपर ही तो रास्ता कटता है। जब रास्ता कटने लगता है, तब रास्तेपर चलनेवाला ठिकानेपर पहुँचेगा ही। इसीलिये भगवान्की ओर चलनेकी इच्छा-मात्रकी, विचारमात्रकी बड़ी महिमा

है। संतोंके ग्रन्थ प्रश्नोत्तरके रूपमें चलते हैं। जो संतोंसे परमात्माकी बात पूछता है, उसकी संत बड़ी प्रशंसा करते हैं। भगवत्सम्बन्धी प्रश्नमात्रसे संत बड़े प्रसन्न होते हैं। प्रश्नकर्त्तासे वे कहते हैं कि 'तूने बहुत अच्छी बात पूछी।' भगवान्के विषयमें रुचि होना ही उनकी दृष्टिमें बहुत बड़ी बात होती है और उस रुचिकी वे बड़ी प्रशंसा करते हैं। संत कहते हैं कि जिसकी श्रीभगवान्की ओर रुचि हो गयी उसे साधारण मनुष्य नहीं मानना चाहिये, चाहे वह कोई भी क्यों न हो। ऐसे ही लोगोंके सम्बन्धमें गीतामें कहा गया है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

(७। २८)

पुण्यकर्मा मनुष्योंके पाप जब सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, तभी वे भगवान्की ओर चलते हैं, दृढ़व्रत होकर चलते हैं। सूर्यभगवान्के विपरीत मुँह कर लेनेपर छाया दीखती है, अँधेरा दीखता है और जहाँ उधरसे मुँह मोड़कर सूर्यकी ओर किया, उसी क्षण हमारा मुख प्रकाशके सम्मुख हो गया, अँधेरा पीछे रह गया, छाया पीछे रह गयी। जबतक जीव भगवान्के विमुख है, तबतक चाहे वह कितना ही उद्योग करे, उसकी दृष्टि छायाकी ओर, अँधेरेकी ओर ही रहेगी। उससे मुँह जब मोड़कर सूर्यभगवान्की ओर कर ले, तब वह प्रकाशके सम्मुख हो जायगा। इसी प्रकार विषयोंके संग्रह और भोग भोगनेमें जबतक जीव रचा-पचा रहता है, तबतक बड़े-बड़े दान-पुण्य आदि शुभ कर्म करता हुआ भी वह जगत्में ही फँसा रहता है, निकल नहीं पाता। इसके विपरीत वह बड़े-बड़े शुभ कर्म करनेवालोंसे भी आगे बढ़ जाता है, जब उसका मुख भगवान्की ओर हो जाता है। भगवान्ने ठीक ही कहा है—

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥'

(गीता ६। ४४)

'परमात्माके तत्त्वका जिज्ञासुमात्र होकर मनुष्य सम्पूर्ण वेदोंमें कहे हुए बड़े-बड़े पुण्यकर्मों, यज्ञ, जप, होम आदिका भी अतिक्रमण कर जाता है, अर्थात् इनके फलकी भी उसके मनमें इच्छा नहीं रहती।'

वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

(गीता ८। २८)

—जो परम आद्यस्थान है, उसको वह योगी प्राप्त हो जाता है। फिर वेदोंमें, यज्ञोंमें, दानोंमें, तपश्चर्याओंमें जितने बड़े-बड़े पुण्य और फल कहे गये हैं, उन सबको वह लाँघ जाता है, जो उनसे विमुख होकर केवल भगवान्की ओर चलता है। भगवान्की ओर मुख करनेके बाद थोड़ा-सा भी अनुष्ठान महान् भयसे तार देता है। इस प्रसङ्गमें भगवान्ने अर्जुनसे यहाँतक कह दिया—

'न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥'

(गीता ६। ४०)

'भैया! कल्याणकारी कार्य करनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती।' इतना ही नहीं, आगे चलकर वे कहते हैं—चाहे मनुष्यने अबतक कितने ही पाप, कितने ही अन्याय किये हों, कितने ही भोग भोगे हों, कितना ही वह उल्टे मार्गपर चला हो—यदि अब वह दृढ़ संकल्प कर ले—

'अब लौं नसानी, अब न नसैहौं।'

(विनयपत्रिका)

'अब मैं अपना नाश नहीं करूँगा।' तो उसके ऐसा निश्चय करते ही उसको साधु मान लेना चाहिये—'साधुरेव स मन्तव्यः'; उसको दुराचारी नहीं मानना चाहिये। यदि किसीकी पूरी आयु दुराचारमें बीती हो, कलतक वह दुराचार करता रहा हो, परंतु यदि आज उसने विचार कर लिया है कि अब तो केवल भगवान्की ओर ही चलना है तो भगवान्की दृष्टिमें उसी क्षण वह महान् पवित्र हो गया। केवल पक्के निश्चयमें ही इतनी शक्ति है।

व्यवसायात्मिका—निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है—'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।' (गीता २। ४१)

संसारमें रचे-पचे रहनेवालेकी बुद्धि कभी एक हो नहीं सकती। उसे कभी धन चाहिये तो कभी मान, कभी बड़ाई तो कभी भोग और कभी ऐश्वर्य चाहिये। इस प्रकार संसारी लोगोंकी न जाने कितनी-कितनी इच्छाएँ होती हैं। इसीलिये अव्यवसायी लोगोंकी बुद्धिको भगवान्ने अनन्त प्रकारकी कहा है—'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च।' ऐसे अव्यवसायी लोगोंकी बुद्धियाँ बहुत-सी शाखावाली होती हैं, अनन्त होती हैं।

इसके विरुद्ध भगवान्‌के मार्गपर चलनेवालेकी बुद्धि एक होती है; क्योंकि प्रभु एक हैं । भगवान्‌की ओर चलनेका विचार जिसके मनमें पक्का हो गया, भगवान् उसकी रक्षा करते हैं—'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी । जिमि बालक राखइ महतारी ॥' (मानस ४ । ४२ । २½) इसके विपरीत ऊपरसे तो कोई अच्छा बना रहे और भीतरसे पाप-वासनामें रत रहे, पाप करता रहे, उसका कहीं ठिकाना नहीं है । भगवान् श्रीराम विभीषणसे कहते हैं—'जो मेरे साथ कपट, छल-छिद्र करता है, वह मुझे सुहाता नहीं—'मोहि कपट छल छिद्र न भावा' । पाप बन जानेपर मनुष्यको चाहिये कि वह भगवान्‌से यों कहे—'नाथ ! पाप बन गया मुझसे । अब ऐसा बल दो, प्रभो ! कि मैं पाप न करूँ ।' जलन हो उसके अन्तःकरणमें । उसका विचार भगवान्‌की ओर चलनेका पक्का रहा तो भगवान् उसे बचा लेंगे । परंतु यदि कोई सोचे कि 'एक बार हमने कह दिया कि हम भगवान्‌के हैं और फिर हम पापमें प्रवृत्त हो गये तो भगवान् हमें बचा लेंगे ।' तो यह उसकी भूल है ।

अर्जुनको भगवान् कहते हैं—'भक्तोऽसि मे सखा चेति' (गीता ४ । ३) (तू मेरा भक्त और सखा है ।) जिस अर्जुनको भगवान् श्रीमुखसे अपना भक्त और सखा स्वीकार करते हैं, उसी अर्जुनके लिये वे आगे चलकर कहते हैं—'अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥' (गीता १८ । ५८) (यदि अभिमानके कारण तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा, तेरा पतन हो जायगा ।) यहाँ यह शङ्का होती है कि पहले तो भगवान् कहते हैं—'मेरे भक्तका नाश नहीं होता—न मे भक्तः प्रणश्यति ।' (गीता ९ । ३१) और अर्जुनको भगवान् स्वयं कहते हैं—'भक्तोऽसि' (तू मेरा भक्त है ।) जब भक्तका विनाश नहीं होता, तब फिर उन्होंने अर्जुनसे कैसे कह दिया—'न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ इसका उत्तर यह है कि भक्तके लिये भगवान्‌ने नाश होनेकी बात नहीं कही है । यह बात तो भगवान्‌ने उनकी आज्ञा न माननेवालेके लिये कही है । जो भगवान्‌की बात ही नहीं सुनता, अपनी रक्षा करनेवालेकी ही उपेक्षा करता है, वह भक्त कैसा ? इसीलिये भगवान्‌ने कहा—'यदि मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा ।' इसके विपरीत जो भगवान्‌का बना रहता है, भगवान् उसकी रक्षा करते हैं; क्योंकि बच्चा जैसे भय लगनेपर माँको पुकारता है, उसी तरह भक्तका मन पापकी ओर जानेपर वह भगवान्‌को ही पुकारता है । भक्तके द्वारा यदि कदाचित् किसी तरहकी भूल हो भी जाय तो उसके हृदयमें विराजित भगवान् उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश कर देते हैं । अतः सज्जनो ! भगवान्‌की ओर चलनेमें आपको बहुत बड़ा पुरुषार्थ करना पड़ेगा, ऐसी बात नहीं है । इसके लिये आपको विचारमात्र—संकल्पमात्र करना होगा । उल्टा रास्ता कठिन होता है, सही रास्ता कठिन नहीं होता । सच्चे हृदयसे भगवान्‌की ओर चलनेवालेके प्रति दुनियाका सद्भाव हो जाता है । चोर-डाकू ही नहीं, हत्यारेतक सच्चे संतके सेवक बन जाते हैं । प्रकृति उनकी सेवामें लग जाती है । उसके प्रति एक-एक व्यक्तिके हृदयका भाव बदल जाता है । जब कोई सच्चे हृदयसे भगवान्‌को चाहने लगता है और उनकी ओर चल पड़ता है, तब विपरीत-से-विपरीत प्राणी भी उसके अनुकूल हो जाते हैं; क्योंकि वह भगवान्‌का हो जाता है ।

अतः हम और आप आजसे ही विचार कर लें कि हमें अब भगवान्‌की ओर ही चलना है । साथ ही भगवान्‌से प्रार्थना करें—'नाथ ! हमें दुर्गुणोंसे, दुराचारोंसे, व्यभिचारसे, अनाचारसे, अत्याचारसे बचायें ।' फिर हम देखेंगे कि आजसे ही हमारा स्वभाव बदलने लगेगा । केवल हमारा ही क्यों, यदि जनता अपना विचार इस दिशामें बदल ले तो सारी जनता सुधर सकती है; क्योंकि सबके मूलमें परमात्मा है, सबका प्रेरक वह है । उसकी ओर सच्चे हृदयसे चल पड़नेपर वह ऐसी व्यवस्था बैठा देता है, जिससे कुविचारोंसे हटकर प्राणी सद्विचारोंमें लग जाता है । इसलिये पारमार्थिक उन्नति कठिन है, ऐसी बात नहीं । असम्भव तो वह है ही नहीं । देखना केवल यही है कि विचार हमारा पक्का हुआ कि नहीं । बस, विचारको पक्का करनेभरकी आवश्यकता है । हम स्वयं जान-बूझकर भगवान्‌से विमुख हो गये हैं, जान-बूझकर संसारके भोगोंमें फँस गये हैं, अपने मनसे संसारके पदार्थोंके संग्रहमें लगे हैं, कमर कसकर दुनियाकी आँखोंमें धूल झोंककर पापोंमें लगे हुए हैं । भगवान्‌के देखते-जानते, हृदयमें उनके विराजमान रहते हम उनसे विमुख हो गये हैं । यह गड़बड़ी हमने स्वयं की है । इसलिये हमें इस विपर्ययसे विरत होकर भगवान्‌के सम्मुख होनेकी आवश्यकता है ।

यदि हम भगवान्‌के विपरीत नहीं चलते—अन्याय, अत्याचार, दुराचार नहीं करते तो भगवान्‌के सम्मुख होनेकी आवश्यकता नहीं थी । तब तो हम स्वतः उनके सम्मुख

थे ही। उस स्थितिमें हमारे लिये इस प्रकारका संकल्प करनेकी आवश्यकता नहीं होती कि हम भगवान्‌के सम्मुख होंगे, अनुकूल होंगे, भजन करेंगे आदि । उस समय तो स्वतः ही हमारे शुद्ध विचार रहते। परंतु हमारे द्वारा बड़ी भारी भूल हो गयी; जो हमें नहीं करनी चाहिये थी, वह भूल हम कर बैठे। जैसी बात हमें सोचनी नहीं चाहिये थी, वैसी बात हमने सोची; जैसा विचार हमें नहीं करना चाहिये था, वैसा विचार हमने किया और तिसपर भी संत-महात्माओंके सामने अपनेको अच्छा बताया—यह उनके साथ हमने विश्वासघात किया। हम शास्त्रके विरुद्ध चले, समाजमें अच्छे बने रहकर हम छिपकर पाप करते रहे। ऊपरसे भक्तोंका-सा आचरण करते रहकर हमने अपने दुर्गुण-दुराचारोंको छिपाया और भीतरसे दुराचारोंमें लगे रहकर विपरीतगामी बने रहे । इसीलिये अब हमें दृढ़ विचार करना पड़ेगा कि अब हम भगवान्‌के विपरीत नहीं चलेंगे। जब हम भगवान्‌से विरुद्ध चलनेमें सफल हो गये, चालाकीसे लोगोंसे आँख बचाकर पाप करते रहे, तब भगवान्‌के सम्मुख होनेमें तो हमें कुछ करना ही नहीं पड़ेगा; क्योंकि इस कार्यमें तो भगवान् स्वयं हमारे साथ रहेंगे । इस काममें तो हमें भगवान्‌की पूरी मदद मिलेगी । ऐसी दशामें इस कार्यमें हमारी उन्नति होगी, हमें सफलता मिलेगी—इसमें तो कहना ही क्या है। अकेले होनेपर भी हम इतने पापोंमें फँस गये, उलटे मार्गपर चले, चालाकी कर बैठे, लोगोंकी आँखोंमें हमने धूल झोंकी । अब सीधे मार्गपर चलनेमें तो स्वयं भगवान् हमारे सहायक हैं, संत सहायक हैं, धर्म सहायक है, महात्मा सहायक हैं, साधारण जनता भी सहायक है; फिर हमें सफलता क्यों नहीं मिलेगी ? अतः प्रत्येक भाई-बहनको अबसे यह निश्चय कर लेना चाहिये कि 'सच्चे हृदयसे अब तो हम भगवान्‌की ओर ही चलेंगे।'

ऐसा विचार करनेके लिये आपको न तो शक्ति लगानेकी आवश्यकता है, न अर्थकी, न बुद्धिकी, न बलकी, न किसी प्रकारकी सामग्रीकी और न किसी संगी-साथी अथवा सहायककी। विचार भर बदलनेकी आवश्यकता है। ज्यों ही विचार बदला कि भगवान् उसी क्षण हमें हृदयसे लगानेको तैयार हैं । हमारे विचारमें ही कचाई रहती है, इस कचाईको ही हमें दूर करना है।

भगवत्प्राप्ति हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। मनुष्य-जन्म जब हमें मिल गया, उसी क्षण परमात्माकी प्राप्तिपर हमारा अधिकार हो गया। इसे कौन हटा सकता है ? नहीं तो मनुष्य-जन्मकी सार्थकता ही क्या है। क्या अनेक पाप करके ८४ लाख योनियोंमें भटकनेकी तैयारी करनेके लिये हमें मनुष्य-जन्म मिला है ? मानव-शरीर इसलिये नहीं मिला है।

'एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥'
(मानस ७ । ४३ । १/२)

यह मानव-शरीर हमें विषय-भोग करनेके लिये नहीं मिला है। ये भोग तो कुत्ते, गदहे, सूकरतकको प्राप्त हैं। ये भोग कहाँ नहीं मिलेंगे ? ये तो सब जगह तैयार हैं। अतः भोगोंकी प्राप्ति मनुष्य-जन्मका फल नहीं है। मनुष्य-जन्म तो मिला है हमें अपना उद्धार करनेके लिये। यह हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। जो इस दिशामें प्रयत्न नहीं करता, वह अपने अधिकारको ठुकराता है। भगवान्‌ने कृपा करके हमको यह स्वर्ण-अवसर दिया है। इस जीवनके अन्तर्गत हमें अनुकूल परिस्थिति मिले या प्रतिकूल, वे दोनों ही हमारे परममङ्गलके लिये हैं। भगवान्‌के द्वारा, शास्त्रके द्वारा, संत-महात्माओंके द्वारा, धर्मके द्वारा जो भी विधान हमपर लागू किया गया है, वही हमारे परम मङ्गलके लिये है । उसी विधानमें प्रसन्न होकर हम भगवान्‌की ओर चलें—इसी बातका हमें दृढ़तापूर्वक विचार करना है। परिस्थितियाँ अनुकूल बन जायँ, यह सबके हाथकी बात नहीं है। जिस समय परिस्थितियाँ हमारे अनुकूल थीं, उस समय हमने क्या कर लिया ? हमारा स्वास्थ्य भी ठीक रहा, जनता भी अनुकूल रही, बहुत-सी बातें हमारी मनचाही होती रहीं, उस समय हमने कौन-सा चमत्कार कर दिखाया ? ऐसी दशामें इस बार परिस्थिति अनुकूल होनेसे हम भजन करके ऊपर उठ ही जायँगे—यह कैसे विश्वास किया जाय, जब कि अनुकूलता मिलनेपर पहले हमने कोई उन्नति करके नहीं दिखायी ? पिछली बार अनुकूलताका सदुपयोग हमारे द्वारा नहीं हुआ, तभी तो अबकी बार भगवान्‌ने हमारे लिये प्रतिकूलता भेज दी है। उनकी दी हुई अनुकूलताका सदुपयोग न करके जो हमने उनकी कृपाका तिरस्कार किया, उसके प्रायश्चित्तरूपमें ही तो यह प्रतिकूलता भगवान्‌ने हमें दी है। अब भी यदि हम चेत जायँ तो कुछ नहीं बिगड़ा है। उनकी भेजी हुई प्रतिकूलताको हम उनकी कृपा समझें। प्रतिकूलता-अनुकूलताका विधान हमारे महान् कल्याणके लिये ही भगवान् करते हैं। इसलिये परिस्थितिकी

प्रतिकूलताको लेकर हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये; उसको लेकर दुःख नहीं करना चाहिये। उसको दूर करनेके पीछे हम अपना समय बर्बाद न करें। जो भी परिस्थिति हमें प्राप्त हुई है, उसीका हमें सदुपयोग करना चाहिये। प्रत्येक परिस्थितिमें हमें भगवान्‌के भजनमें जोरसे लग जाना चाहिये। फिर देखें, हमारा सुधार होता है या नहीं। हर हालतमें हमें सच्चे हृदयसे भगवान्‌के भजन-स्मरणमें लग जाना है; दृढ़तापूर्वक लग जाना है। हमें अपने स्थानपर जाना है, अपने स्वरूपको, अपने अधिकारको प्राप्त करना है; अपने वास्तविक उद्देश्यकी सिद्धि करनी है, अपनी खोयी हुई वस्तुको प्राप्त करना है। हम जब पराये ऐश्वर्यके, पराये भोगोंके चक्करमें फँसकर उनका भी भोग कर लेते हैं, उस धनका भी संग्रह कर लेते हैं, जिसपर हमारा कोई अधिकार नहीं होता, उसे बढ़ानेकी भी आशा ही नहीं करते, उसमें हमें कुछ सफलता भी दृष्टिगोचर होती है, तब जिस वस्तुपर हमारा अपना अधिकार है, उसमें हम आगे नहीं बढ़ेंगे, यह कैसे सम्भव है। सज्जनो! याद रखो—भोग भोगनेसे हमें-आपको क्या मिला? जिस समय हमने भोग नहीं भोगे थे, उस समय हमारे अंदर कौन-सी कमी थी और भोग भोगनेके बाद हममें क्या अधिकता आ गयी? आयु नष्ट हुई, शरीर नष्ट हुआ, पुण्य नष्ट हुए। हमें पाप लगा, हम नीचे गिरे, रोगी हुए—यही सब हुआ। बढ़िया बात कौन-सी हुई? हमने भोग भोगकर देख लिये, संग्रह करके देख लिया, इससे हममें क्या विशेषता आयी? यदि आयी है तो कमी ही आयी है। शरीरकी भी कमी आयी, शरीर भी नष्ट हुआ। स्वभाव भी खराब हुआ, पाप भी अधिक हुआ, किसी बातका लाभ भी हुआ क्या? यदि नहीं हुआ तो अब इस चालको हम क्यों नहीं छोड़ते? हानिकारक वस्तुके तो त्यागमें ही बुद्धिमानी है। यदि लाभदायक वस्तुका परित्याग हम कराते हों, तब तो आप कह सकते हैं कि 'लाभदायक वस्तुसे आप हमें क्यों वञ्चित करते हैं?' हानिसे बचनेकी सभीको बड़ी आवश्यकता है। आप अपनी चेष्टासे ही इससे बच सकेंगे, दूसरा कोई आपको बचा नहीं सकता। दूसरा सम्मति दे सकता है; परंतु याद रखिये—

'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥'

(गीता ६।५)

'आप स्वयं ही अपना बन्धु हैं, आप स्वयं ही अपना वैरी भी हैं।' इसलिये 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।—अपना उद्धार स्वयं करे। अपना पतन न करे।' भगवान्‌को पुकारें। पक्का निश्चय कर लें। फिर हमारी उन्नति होगी ही—यह निश्चित है। इसमें रञ्चमात्र भी संदेह नहीं है।

'राम'-नामका माहात्म्य

अशने शयने पाने गमने चोपवेशने।
सुखे वाप्यथवा दुःखे राममन्त्रं समुच्चरेत् ॥
न तस्य दुःखदौर्भाग्यं नाधिव्याधिभयं भवेत्।
आयुः श्रियं बलं तस्य वर्द्धयन्ति दिने दिने ॥
रामेति नाम्ना मुच्येत पापाद्धै दारुणादपि।
नरकं नहि गच्छेत गतिं प्राप्नोति शाश्वतीम् ॥

(स्कन्दपुराण, ब्रह्मखण्ड, धर्मारण्य माहा० ३४। ४८–५०)

खाते-पीते, सोते, चलते और बैठते समय सुख या दुःखमें जो प्राणी राममन्त्रका उच्चारण करता रहता है, उसे दुःख, दुर्भाग्य और आधि-व्याधिका भय नहीं रहता; उसकी आयु, सम्पत्ति और बल प्रतिदिन बढ़ते रहते हैं। 'राम'-नामसे वह भयंकर पापसे छूट जाता है, नरकमें नहीं पड़ता और अक्षयगतिको प्राप्त होता है।

महर्षि रमण

(लेखक—श्रीरामलाल)

महर्षि रमण औपनिषद आत्मयोगी थे, आत्मज्ञ थे । वे अरुणाचलके सजीव दिव्य रूप थे । वे समस्त जगत्के थे और समस्त जगत्की आत्मचेतना—परम सत्ताकी अभिव्यक्ति थे । परम सत्ता उनकी आत्मामें व्याप्त थी । उन्होंने माया-मोहके अन्धकारसे आतंकित और जड-विज्ञानसे उत्पीडित प्राणीको आत्मदान दिया । वे श्रद्धा और भक्तिके अरुणाचल थे, दिव्य सिन्दूर थे । महर्षि रमणने आजीवन अखण्ड-असङ्ग आत्मरमणका रसास्वादन किया । सुन्दरानन्द स्वामीके शब्दोंमें 'महर्षि रमण जीवन्मुक्त मुनिवर और आत्मनिष्ठाधुरीण थे ।' दक्षिण भारतके एकान्त अरुणाचल प्रदेशमें असंख्य लोगोंने उनके चरणपर नतमस्तक होकर अमित निष्ठा प्रकट की । वे परम सिद्ध और भुक्ति-मुक्तिप्रदाता थे । वे आत्मशान्तिकी मौन-भाषा थे । उन्होंने अपने तपोमय जीवनसे सिद्ध किया कि मौनमें जो सक्रियता और शक्ति है, वह भाषण अथवा प्रवचनमें कदापि नहीं है । उनका आत्मदर्शन सर्वदर्शन है । उन्होंने कहा कि शरीर और आत्माके मध्यमें 'अहम्' एक गाँठ है । रमणाश्रम सांसारिकताके मरुस्थलका मरूद्यान है; उसमें प्रवेश करनेपर प्राण शीतल, शान्त और तृप्त हो जाता है । महामहोपाध्याय महाकवि लक्ष्मण सूरिकी वाणीकी प्रणति है—

वन्देऽरुणगिरिशिखरे द्वितीयमरुणाचलेशमिव भान्तम् ।
आनन्दतुन्दिलं श्रीरमणमहर्षीन्द्रयोगीन्द्रम् ॥

महर्षि रमणने आत्माकी स्थिति स्वीकार की । उन्होंने कहा कि 'इस बातका विचार मत करो कि तुम मरनेके बाद क्या होगे; समझना तो यह है कि तुम इस समय क्या हो ।' परमात्मा और आत्मा एक ही वस्तु-तत्त्वके दो नाम हैं—रमण महर्षिने इस तथ्यकी परिपुष्टि की । उन्होंने आत्मसाधनाकी व्याख्यामें कहा कि 'आत्मदर्शन और जीवन दोनों पर्याय हैं ।' वे रहस्यमयी आत्मचेतनामें सदा विभोर रहते थे । शाश्वत चिन्मय आत्मशान्ति ही उनकी परमात्मानुभूति—परम सत्ताकी प्राप्तिकी मूलभूमि स्वीकार की जाती है । वे लोकगुरु, सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मज्योतिसम्पन्न आत्मज्ञानी महात्मा थे ।

महर्षि रमणने अरुणाचलकी पौराणिक ऐतिहासिकताको प्राणान्वित किया । स्कन्दपुराणमें वर्णित अरुणाचल पृथ्वीका हृदय तथा समस्त तीर्थोंका शिरोमणि स्वीकार किया गया है । महर्षिके श्वास-श्वास इसी चिन्मय पवित्र अरुणाचलकी गोदमें स्वस्थ थे । महर्षिकी आत्मोपासनाने समस्त विश्वकी चेतनाको झंकृत किया । समस्त जगत्के कर्मोंमें उन्होंने आत्मविलास अथवा आत्मरमणकी अनुभूति की । विक्रमीय बीसवीं शताब्दीकी आध्यात्मिक विभूतियोंमें उनकी गणना बड़े सौभाग्य और महत्त्वकी बात है । उन्होंने अपनी खोज की; वे शरीर नहीं, शरीरी थे । उन्होंने लोकजीवनको आत्मप्रकाशसे सम्पन्न किया । दक्षिण भारतके तमिलनाडुके मदुरा जनपदके तिरुचुषि ग्राममें एक साधारण, पर अत्यन्त धर्मनिष्ठ ब्राह्मण-परिवारमें (संवत् १९३६ वि०) सन् १८७९ ई०, ३० दिसम्बरको एक बजे रातमें महर्षि रमणका प्राकट्य हुआ था । उनके पवित्र जन्मसे धरतीपर आत्माका पूर्ण प्रकाश उतर आया । उनके पिता सुन्दर अय्यरने वेंकटरमणको मदुरामें लाकर पालन-पोषण किया । वे मदुरामें वकालत करते थे । वेंकटरमण (महर्षि रमण) के बड़े भाईका नाम नागस्वामी था । उनकी माता अघगम्माल बड़ी सती-साध्वी थीं । वेंकटरमण अपनी माताके साथ मन्दिरमें देव-दर्शन करने जाया करते थे । बाल्यावस्थामें उनकी शिक्षाका प्रबन्ध तिरुचुषिकी पाठशालामें था । उसके बाद डिंडुक्कलमें उन्होंने पाँचवीं कक्षातक अध्ययन किया । मदुराके स्काट्स् माध्यमिक विद्यालय तथा एक अमेरीकी मिशनके विद्यालयमें उनकी उच्च शिक्षाकी व्यवस्था की गयी । पढ़ने-लिखनेमें उनका मन कम लगता था । वे शिक्षाके प्रति प्रायः उदासीन रहा करते थे । वेंकटरमण अनवरत किसी गम्भीर चिन्तनमें लीन रहते थे । वे देखनेमें बड़े सुन्दर, सौम्य तथा सुशील थे । लोग उन्हें देखकर मुग्ध हो जाया करते थे । वेंकटरमणने बचपनमें तिरसठ तमिल शैव संतों (नायनारों) का जीवन-चरित्र पढ़ा । वे उससे बहुत प्रभावित हुए । देव-मन्दिरमें दर्शन करते समय भगवान्से वर माँगा करते थे कि 'प्रभु ! मेरा जीवन भी इन्हीं संतोंके जीवनकी तरह बना दीजिये ।' उनमें बचपनमें ही वैराग्यकी प्रवृत्ति बढ़ने लगी । संसारके नश्वर रूप—प्राणियों और पदार्थोंमें उनकी तनिक भी रुचि नहीं रह गयी । वे उनके प्रति अनासक्त हो उठे । उन्होंने आत्मोदयकी स्वर्णिम

किरणोंकी झाँकी देखी । 'पेरियपुराणम्'के पाठसे उनका जीवन ही बदल गया; तमिल-संतोंकी चरित्र-माला उन्होंने अपने गलेमें डाली । जब वे केवल पंद्रह सालके थे, एक दिन उनके घरपर एक अतिथिका आगमन हुआ । 'आपका आगमन कहाँसे हुआ है ?'—ऐसी जिज्ञासासे वेंकटरमणने उनके प्रति सम्मान प्रकट किया । 'अरुणाचलसे'—अतिथिके मुखसे ये शब्द निकले ही थे कि वेंकटरमण किसी पूर्वजन्मके संस्कारके फलस्वरूप एक दिव्य भावना अथवा चेतनासे सम्पन्न हो उठे । उनका रोम-रोम विलक्षण आनन्दसे सिहर उठा, श्वास वेगसे चलने लगा । लोग उनकी दशा देखकर आश्चर्यचकित हो गये । अरुणाचलेश्वर शिवसे उनका अविच्छिन्न शाश्वत आत्मसम्बन्ध था, इस बातकी सत्यता इस घटनासे प्रमाणित हो जाती है ।

उन्होंने सत्रह सालकी अवस्थामें मृत्युके स्वरूपपर विचार किया और अमरता—आत्माकी सनातन सत्ताकी अनुभूति प्राप्त की । एक दिन वे अपने चाचाके घरकी ऊपरी छतपर थे । वे पूर्ण स्वस्थ थे । अचानक उन्हें ऐसा लगा कि मृत्यु आ रही है । वे आतंकित हो उठे । वे गम्भीरतापूर्वक सोचने लगे कि मृत्यु शरीरकी होती है या इसमें रहनेवाले 'अहम्' की । उन्होंने इस विषयमें प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहा । वे छतपर लेट गये । उन्होंने आरामसे हाथ-पैर फैला दिये; अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल कर दिये । वे सोचने लगे कि "लोग थोड़ी देरके बाद मेरे मृत-शरीरको श्मशान ले जायँगे । उसे जलाकर राख कर देंगे तो क्या शरीरके जल जानेपर इसमें निवास करनेवाला 'मैं' भी जल जायगा ।" अन्तरात्माने उत्तर दिया, 'नहीं, नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता । मृत्यु शरीरको मार सकती है; आत्मा अविनश्वर है, अमर है और मृत्युकी सीमासे बाहर है ।' वे सावधान हो गये । मन-ही-मन सोचने लगे, "शरीर मर रहा है, मृत्यु आ रही है । वह मुझे दीख पड़ रहा है । इसे देखनेवाला 'मैं' निस्संदेह अमर है ।" अज्ञान-अन्धकारका नाश हो गया, अविद्याका अन्त हो गया । वेंकटरमणने आत्मपरिचय प्राप्त किया । वे उठ बैठे । उन्होंने मृत्युपर विजय पायी, उन्हें शरीरमें जकड़ी आत्माका मुक्ति-विधान मिल गया । इस असाधारण घटनासे वे सचेत हो गये । संसारके प्रति उदासीनता बढ़ने लगी । लोगोंने उनमें परिवर्तन देखा । पढ़ने-लिखनेमें उनकी तनिक भी रुचि नहीं रह गयी । वे अपनी खोज आत्मान्वेषणके लिये विकल हो उठे । ये नियमपूर्वक मन्दिरमें जाकर शिव नटराज और मीनाक्षीसे कृपा-याचना करने लगे; आत्माकी खोजके लिये सहायता माँगने लगे । उनका अन्तःकरण आत्म-ज्योतिसे प्रकाशित हो उठा; वे आत्माके उपासक बन गये ।

गृहत्यागका समय आ गया । वेंकटरमणकी अवस्था केवल सत्रह सालकी थी । एक दिन उन्हें अरुणाचलका स्मरण हो आया । उन्होंने अपने बड़े भाई नागस्वामीसे कहा कि 'आज विद्यालयमें विशेष कक्षाका आयोजन है, मुझे जाना है ।' नागस्वामीने कहा कि 'पेटीमें पाँच रुपये हैं, उन्हें लेते जाओ । मेरी फीस जमा कर दो ।' वेंकटरमणने सोचा कि साक्षात् अरुणाचलेश्वर ही मेरे मार्ग-व्ययकी व्यवस्था कर रहे हैं; उन्होंने आवश्यकताके अनुसार तीन रुपये ले लिये और घर तथा सांसारिक जीवनसे अन्तिम विदा ली । जाते समय उन्होंने पत्र लिख दिया, 'मैं परमपिताकी खोजमें उन्हींकी आज्ञासे निकल चुका हूँ । यह शरीर सत्कार्यमें ही प्रवेश कर रहा है । इस सम्बन्धमें कोई व्यर्थकी माथा-पच्ची न करे; न दुःख माने ।' पत्रपर उन्होंने नाम नहीं लिखा; नामके प्रति उनका वैराग्य हो गया । वे आत्मानुसंधानके लिये अनाम होकर निकल पड़े । वे घरसे सीधे रेलवे स्टेशन गये । गाड़ी विलम्बसे आयी । तिरुवण्णामलै पहुँचनेके लिये निकटतम स्टेशन तिण्डिवनम् था । सवेरा होते-होते गाड़ी विष्णुपुरम् पहुँची । अरुणाचलका पता लगानेके लिये वे नगरमें गये । केवल दस पैसे पास थे । टिकट कटाकर अगले स्टेशनतक ही जा सके । उन्होंने शेष मार्ग पैदल चलकर पूरा किया । सूर्य अस्ताचलकी ओर जा रहे थे । वे अरयणिनल्लूर पहुँचे । मन्दिरमें देव-दर्शनके लिये गये । उन्हें अद्भुत प्रकाश दीख पड़ा । उसे मूर्ति समझकर वे मन्दिरके गर्भगृहमें गये ।—इस प्रकार उन्होंने भागवती कृपा-ज्योतिका दर्शन किया । मनमें विश्वास हो गया कि भगवान् अरुणाचलेश्वर पद-पदपर उनकी सहायता कर रहे हैं । मन्दिरका पट बंद होनेवाला था । वे मन्दिरके बाहर आते ही ध्यानस्थ हो गये । उन्होंने पुजारीसे भोजन माँगा । पुजारीने भोजन देना अस्वीकार कर दिया । वे मन्दिरसे लोगोंके साथ किचूर गाँव आये । अन्न-जलके अभावमें भूख उन्हें जोरोंसे सता रही थी । एक परिवारकी भागवत—भगवद्भक्त दम्पतिने दूसरे दिन उन्हें सिद्धान्न खिलाया । उन्होंने चार रुपयोंमें अपने कानकी सोनेकी बाली गिरवी रखी । इस प्रकार वे १९५३ वि० की भाद्र कृष्णा नवमीको प्रभातकालमें तिरुवण्णामलै पहुँच गये । रेलवेसे उतरते ही वे सीधे भगवान् अरुणाचलेश्वरके मन्दिरमें

अपनी उपस्थिति निवेदन करने गये । उन्होंने परम ज्योतिके सम्मुख श्रद्धा और भक्तिसे नतमस्तक होकर कहा कि 'प्रभु ! मेरी लाज आपके हाथमें है, मैं आपके पदपद्ममें पूर्णरूपसे आत्मार्पण करता हूँ। परम देव ! मुझे आत्मज्ञान दीजिये ।' वे भगवान् अरुणाचलेश्वरका दर्शन कर मन्दिरके बाहर आये। अयंकुलम् तालावपर जाकर उन्होंने शेष सामान तथा पैसे आदि फेंक दिये, कपड़े उतारकर कौपीन धारण कर लिया। वे पूरे अवधूत बन गये। वृष्टि हुई, ऐसा लगता था मानो प्रभुने उनके स्नानके लिये जलके रूपमें अपनी कृपा बरसायी। वे हजार खम्भेवाले मण्डपमें जाकर जप करने लगे। बालयोगीने मौन व्रत लिया। बाहर एकान्तकी सुविधा न पाकर कुछ दिनोंके बाद भूगर्भगृह-पाताललिङ्ग स्थानमें प्रवेशकर जप-तप करने लगे। लोग आश्चर्यचकित हो गये; यह स्थान अँधेरा था; उसमें प्रकाश नाममात्रको भी नहीं था; उस भूगर्भगृहमें कीड़े-मकोड़े अधिक थे। वे आत्मध्यानमें इस प्रकार तल्लीन हो गये कि शरीरकी सुधि ही न रही। वे लोगोंमें ब्राह्मण स्वामीके नामसे प्रसिद्ध हो गये। दूर-दूरसे उनके दर्शन करनेवालोंकी भीड़ आने लगी। अनुकूलताकी दृष्टिसे जगह बदलते रहनेपर भी साधु-संत उनका पता लगाकर मिलते रहते थे। वे कुछ दिनोंतक कार्तिकेय-मन्दिरमें रहे; तत्पश्चात् उसीसे सटी एक फुलवारीमें तप किया। वे मंगेपिल्लैयार मन्दिरमें भी रहे। उद्दण्डिनायनार नामक एक साधुने उनकी बड़ी सेवा की। अड़ोस-पड़ोसके जनपदोंमें नये बालसंन्यासीकी प्रसिद्धि बढ़ने लगी। वे नितान्त मौन और आत्मस्थ थे। एक दिन मदुराके एक मठमें तिरुवण्णामलैके तंबिरानजीने बालयोगी रमणके पूर्वाश्रमकी महिमापर भाषण दिया। उस भाषणमें रमणके परिवारका एक बालक उपस्थित था। भाषण सुननेके बाद यह बात उसके मनमें बैठ गयी कि बालयोगी हमारे वेंकट-रमण ही हैं। लड़केने घर आकर यह भेद प्रकट किया। रमणके चाचा नेल्लियेप्पैय्यर अरुणाचल गये। उस समय रमण महर्षि एक अमराईमें थे। उनसे मिलना आसान नहीं था। किसी प्रकार उन्होंने मिलनेकी आज्ञा प्राप्त की। उन्होंने देखा कि रमणका शरीर धूलिधूसरित है, जटा बढ़ी हुई है, नाखून बढ़कर टेढ़े हो गये हैं। उन्होंने मन-ही-मन अपने सौभाग्यकी सराहना की कि हमारे कुलके एक बालकने इस प्रकार आध्यात्मिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। उन्होंने उनसे घर चलनेका आग्रह किया, पर बालयोगी मौन रहे। मौन ही उनका उत्तर था। उनके चाचा घर लौट आये।

माता अषगम्माल अपने बड़े पुत्र नागस्वामीको लेकर रमणको देखने आयीं। उन्होंने अपने प्राणप्यारे पुत्रको देखा। वे एक पाषाणखण्डपर लेटे हुए थे, शरीर काला पड़ गया था और नेत्रोंमें दिव्य ज्योति थी। माताकी ममता जाग उठी। उन्होंने घर चलनेका आग्रह किया। संन्यासी पुत्रने मौनका वरण किया। स्वामी रमणने विशेष आग्रह करनेपर लिखा, 'विधाता प्राणियोंके भाग्यका उनके प्रारब्धके अनुसार निपटारा करते हैं। जो नहीं होना है, वह नहीं होगा। सबसे उत्तम मार्ग मौन है।' माता चली गयीं। वे कभी-कभी उन्हें देखने आया करती थीं। कुछ दिनोंके बाद वे आश्रममें ही निवास कर उन्हें वात्सल्यका रसास्वादन कराती रहीं। रमण मौन ही रहते थे।

अरुणाचल आनेके बाद महर्षि रमण फिर कहीं नहीं गये। उन्होंने उस पवित्र दिव्य स्थानमें चौवन सालतक निवास किया। विश्वके कोने-कोनेसे लोग आकर उनकी चरण-धूलिसे अपने आपको कृतार्थ मानने लगे। महर्षि रमणने अरुणाचलकी महिमाका वर्णन किया है कि 'इस पर्वतका ऐसा प्रभाव है कि इसका स्मरण करनेसे ही प्रत्येक व्यक्तिको किसी दशा या स्थानसे ही तत्काल मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस पर्वतरूपी लिङ्गमें समस्त जगत् व्याप्त है। यह भगवती पार्वतीकी तपोभूमि है। सत्ययुगमें यह अग्निके स्तम्भके रूपमें था, त्रेतामें लाल मणिके समान था और द्वापरमें सुवर्ण था तथा कलिमें पाषाण है।' अरुणाचलकी महिमासे महर्षि रमण गौरवान्वित हुए तथा उनकी उपस्थितिसे वातावरणमें दिव्य शान्ति परिव्याप्त हो उठी। उन्होंने विरूपाक्षगुफा और आम्रगुहामें भी तपस्या की। विरूपाक्ष गुफामें निवास करते समय महर्षि रमणने 'अक्षररमणमालै' की रचना की। उनके शिष्य और भक्त 'अक्षररमणमालै' गीत गा-गाकर गाँवोंमें भिक्षा माँगा करते थे।

रमण महर्षिका आश्रम-जीवन परम तपोमय था। आश्रमके बंदर, गिलहरी तथा अन्य पशु-पक्षी उनके अनन्य साथी थे, दो सफेद मोर और एक काला कुत्ता करुप्पन तथा गाय लक्ष्मी आदि उनके प्रेमभाजन थे।

संस्कृतके उद्भट विद्वान् काव्यकण्ठ गणपति शास्त्री उनसे मिलने आये। वे तपोरूप संन्यासीको देखकर विनत हो गये। उन्होंने निवेदन किया कि 'देव ! मैंने वेदान्तशास्त्रका अध्ययन किया, बड़े-बड़े ग्रन्थ देखे, मुझे पता न लगा

तपके रूपका। मुझे तपका रूप समझाइये।' रमण महर्षि घर छोड़नेके बादसे ही मौन थे। मौनव्रतका पालन करते ग्यारह साल हो गये थे। संवत् १९६४ वि०में गणपति शास्त्री उनसे मिलने आये थे। महर्षिने पंद्रह मिनटतक उनकी ओर एकटक देखा; उन्हें सच्छिष्यकी श्रद्धा मिल गयी। शिष्यने गुरुकी कृपा-ज्योति प्राप्त कर ली। महर्षिने मौनव्रत भङ्ग किया ठीक ग्यारह सालके बाद। उन्होंने कहा, 'निरन्तर आत्मानुसंधानमें मनका तत्पर रहना ही तप है। इसी प्रकार मन्त्रका जप करते समय मन्त्रनादके अनुसंधानमें मनका लगा रहना तप है।' काव्यकंठ गणपति शास्त्रीका पूरा-पूरा समाधान हो गया। वे सद्गुरुके चरणोंपर विनत हो गये। गणपति शास्त्रीने उनके पूर्वाश्रमके नामका पता लगानेपर महर्षिके शिष्यों और अनुयायियोंसे कहा कि महर्षिके लिये हमलोग 'भगवान् रमण महर्षि' विशेषणका उपयोग करेंगे। अरुणाचलके प्रसिद्ध आत्मयोगी इस तरह महर्षि रमणके नामसे प्रसिद्ध हुए।

महर्षि रमणको सिद्धियों और चमत्कारोंसे बड़ी घृणा थी। वे कहा करते थे कि 'चराचरमें एक ही चेतन सत्ताका अधिवास है, फिर सिद्धि किसके प्रति दिखायी जाय।' उनकी साधनाका स्वरूप आत्मान्वेषण था। केवल आत्माकी खोजके लिये ही उन्होंने जगत्से विरक्त होकर तप किया। वे कहा करते थे कि 'सर्वोत्तम और परम शक्तिमयी भाषा मौन है। मौन शान्तिका भूषण है। उपदेश तो नितान्त मौन रहकर ही दिया जा सकता है।' अरुणाचल उनके तपोमय जीवनका दिव्य तथा परम ज्योतिर्मय प्रतीक है। रमणाश्रममें देश-विदेशके अध्यात्म-पथके जिज्ञासु आ-आकर अपनी जिज्ञासा और पिपासाकी तृप्ति करने लगे। महर्षिकी दृष्टि पड़ते ही, मौन भाषाका प्रवाह उमड़ते ही उनकी सारी शङ्काओं और प्रश्नोंका समाधान हो जाया करता था। रमणाश्रमसे आध्यात्मिक लाभ उठानेवालोंमें काव्यकंठ गणपति शास्त्री, कपालिशास्त्री, शुद्धानन्द भारती, शेषाद्रिस्वामी, योगी रंगनाथन्, हम्फ्रीस, पाल ब्रन्टन आदिके नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं। उन लोगोंने अपनी श्रद्धा महर्षिके चरणोंमें समर्पित कर अनन्य भक्ति और आदरका परिचय दिया। महर्षिके दर्शनके लिये दूर-दूरसे आनेवाले यात्रियोंकी भीड़ लगी रहती थी। मौन रमण महर्षिकी साधनाका प्राण था तो शान्ति उनकी आत्मोपासनाकी सखी थी, शक्ति थी। वे वास्तविक आत्मज्ञ थे।

महर्षि मौनसे ही प्रश्नोंका उत्तर दे दिया करते थे। यदि बोलना पड़ता था तो विचित्र ढंगसे समाधान किया करते थे। एक समय एक व्यक्तिने जिज्ञासा प्रकट की कि सभी मनुष्योंमें समता स्थापित होनी चाहिये। महर्षि रमणने तत्काल कहा कि सबको सो जाना चाहिये, निद्रामें समता है। एक समय महर्षिने कहा कि 'विवेकानन्दजीने परमहंस रामकृष्णसे प्रश्न किया था कि क्या आपने परमात्माको देखा है?' मैं प्रश्न करता हूँ कि 'परमात्माको किसने नहीं देखा है।'

एक बार महात्मा गांधीके दाहिने हाथ बाबू राजेन्द्र-प्रसाद् रमणाश्रम गये। उन्होंने महर्षि रमणका दर्शन करनेके बाद कहा कि 'महात्माजीने मुझे आपके पास भेजा है, क्या आप उनके लिये संदेश देंगे।' महर्षिने गम्भीर शान्तिसे कहा कि 'संदेशकी क्या बात है, हृदय तो हृदयकी बात कहता ही है; जो शक्ति यहाँ कार्य कर रही है, वही वहाँ भी कार्यशील है।'

एक बार एक व्यक्तिद्वारा उनके प्रति साधारण-सा अपराध हो गया। वह व्यक्ति बड़ा दुःखी हुआ। एक मित्रके परामर्शसे वह महर्षिके पास आया। पश्चात्ताप तथा क्षमा-याचना करते हुए उसने आदरपूर्वक महर्षि रमणकी तीन बार प्रदक्षिणा की, निवेदन किया कि 'मनसे आप मेरे अपचार-की बात निकाल दीजिये। मुझसे बड़ी भूल हो गयी, क्षमा कर दीजिये।' महर्षिने कृपाभरी दृष्टिसे उसकी ओर देखकर कहा कि 'मेरे पास तो मन है ही नहीं, फिर अपचारकी बात ठहर ही कैसे सकती है।' व्यक्तिने उनकी चरण-धूलि मस्तकपर चढ़ा ली और वन्दना की।

महर्षि शरीर-भावसे सवथा शून्य थे। एक समय जब वे स्कन्दाश्रममें रहते थे, योगी रंगनाथन्के साथ टहलते हुए पहाड़ीकी ओर निकल गये। वनमें प्रवेश करते ही पैरके तलवेमें काँटे चुभने लगे तथा पत्थरके टुकड़े गड़ने लगे। वे तेजीसे आगे बढ़ रहे थे, पैरोंमें चोट लगती थी, रक्त बह रहा था, योगी रंगनाथन् पीछे रह जाते थे। रंगनाथन्से यह दृश्य देखा न गया, उन्होंने महर्षिको रोका, पैरसे काँटे निकाले। महर्षिने कहा कि 'काँटे तो रास्तेमें चुभेंगे ही, तुम कबतक निकालते रहोगे।' उनके कहनेसे योगी रंगनाथन् मौन हो गये। महर्षि द्रुत गतिसे आगे बढ़ गये। उन्होंने आत्मचिन्तनके समक्ष शरीरकी चिन्ताको तनिक भी महत्त्व नहीं दिया। वे तो परम विरक्त थे।

एक बार स्कन्दाश्रममें योगी रंगनाथन् महर्षिका दर्शन करने गये थे। दस दिन पहले एक विचित्र घटना घटी थी। महर्षिके सामने ही माता अधगम्मालने कहा कि 'मैंने देखा था कि रमणका शरीर एक लिङ्गके रूपमें परिणत हो रहा था, तिरुचुषि मन्दिरके शिवलिङ्गके ही समान मुझे रमणका शरीर दीख पड़ा। दस बजे दिनका समय था, पहले तो मैंने विश्वास ही नहीं किया, पर फिर देखनेपर वही स्थिति बनी रही। मैं भयभीत हो उठी कि रमण हमलोगोंका साथ छोड़ रहे हैं; पर धीरे-धीरे लिङ्गके स्थानपर उनका शरीर प्रकट हो गया। मेरे जीमें-जी आया।' योगी रङ्गनाथन् महर्षिकी ओर देखने लगे। महर्षिने मुसकुरा दिया। ऐसा करके उन्होंने माताके कथनका अनुमोदन किया। यह उनकी दिव्य साधनाकी एक असाधारण घटना है।

संवत् १९६५ वि० की बात है। काव्यकंठ गणपति शास्त्री मद्रासके पास तिरुवोत्तियूरके गणेश-मन्दिरमें तप कर रहे थे। उनके मनमें एक प्रश्न उठा, वे सोचने लगे कि यदि महर्षि पास होते तो कितना अच्छा होता। इतनेमें महर्षि दीख पड़े। गणपति शास्त्रीने साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम किया। महर्षिने उनके सिरपर हाथ रखा, वे उनके स्पर्शसे धन्य हो गये। महर्षिने इक्कीस सालके बाद इसी प्रकारकी एक घटनाका वर्णन करते हुए कहा था कि 'कुछ समय पहले मैं लेटा हुआ था; समाधिकी दशा नहीं थी; ऐसा लगा कि शरीर ऊपरको ओर उठाया जा रहा है। दृश्य-जगत् लुप्त हो गया; मेरे चारों ओर सघन उज्ज्वल ज्योति दीख पड़ी। थोड़ी देरके बाद दृश्य-जगत् फिर भासित हो उठा। मुझे उस समय ऐसा लगा कि मैं तिरुवोत्तियूरके गणेश-मन्दिरमें हूँ। मैंने कुछ भाषण किया था, जिसका मुझे स्मरण नहीं है। उसके बाद अरुणाचलपर विरूपाक्ष गुफामें आ गया।' इस घटनाका साम्य गणपति शास्त्रीद्वारा वर्णित घटनासे है। यह घटना महर्षि रमणकी परमोच्च सिद्ध अवस्थाका परिचय कराती है। आत्मसाधनाके क्षेत्रमें इस तरहकी घटना चमत्कार नहीं, दिव्य आत्मसिद्धिकी द्योतक है।

महर्षि रमण उच्चकोटिके अपरिग्रही महात्मा थे। संवत् १९९९ वि० की बात है। रमणाश्रमकी स्थापनाके बीस साल बादकी घटना है। उस समय आश्रम आवश्यक उपयोगी वस्तुओंसे सम्पन्न था, पर महर्षि तो त्यागके सुमेरु थे। एक समय उनके पास केवल एक ही लंगोटी ठीक हालतमें थी। स्नान करनेके बाद बदलनेके लिये दूसरी लंगोटी नहीं थी। उनकी एक लंगोटी फटी थी; वे लोगोंको बतलाना नहीं चाहते थे, लोग तत्काल ही दूसरी नयी लंगोटी रखनेका आग्रह करते। महर्षिने इसी भयसे किसीसे सूई-डोरेतककी माँग नहीं की। फटी लंगोटी पहननेयोग्य नहीं थी। यदि उसे पहनते तो लोगोंको पता चल जाता। वे जंगलमें गये। उन्होंने एक मोटा-सा काँटा लिया। उसके अग्रभागमें एक दूसरे काँटेकी नोकसे छेद किया। लंगोटीमेंसे डोरा निकालकर मोटे काँटेवाले छेदमें डाल दिया; इस प्रकार अद्भुत ढंगसे सूई-डोरा बनाकर फटी लंगोटी सी डाली। इस घटनाका वर्णन कुछ दिनोंके बाद महर्षिने स्वयं अपने ही मुखसे लोगोंके सामने किया था। कितना असाधारण था उनका जीवन!

वे करुणा-सागर थे। समस्त प्राणियोंके प्रति उनके हृदयमें सहज दया थी। एक समय एक घायल कौवा उड़ता हुआ आश्रममें गिर पड़ा। महर्षिने उसको अपने कोमल कर-स्पर्शसे सहलाया, काफी चोट थी। उन्होंने पट्टी बाँधी तथा आश्रममें ही एक सुरक्षित स्थानपर उसे रखवा दिया। तीन दिनोंके बाद उसे देखने गये; हाथमें उसे लिया ही था कि उसके प्राण निकल गये; उसका मृत शरीर महर्षिके हाथमें रह गया। कितना सौभाग्यशाली था वह! उसे महर्षिके हाथसे अनायास सद्गति मिली। उसके जन्म-जन्मान्तरके पुण्य प्रकट हो गये, असहाय पक्षी धन्य हो गया। महर्षिने उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न की और उसकी समाधि बनवायी। समाधिपर कौवेकी आकृतिका एक पत्थर लगाया गया, जो महर्षिकी करुणाका अमर प्रतीक है। रमणाश्रममें ऐसी समाधिके दर्शनसे असंख्य प्राणी चिरकालतक मुग्ध होते रहेंगे।

महर्षि रमणका सिद्धान्त आत्मानुसंधान था। उन्होंने आत्मानुभूति प्राप्त की। उन्होंने कहा कि 'अपने-आपको जानो, आत्मज्ञान ही परमोच्च ज्ञान है, सत्यका ज्ञान है।' उन्होंने वचन नहीं, अपने जीवनसे आत्मोपदेश दिया, आध्यात्मिक शिक्षा दी। उनकी भाषाका अलंकार मौन था; उनकी साधनाका प्राण आत्मज्ञान था। उन्होंने आत्मज्ञानके कृपाणसे मोहमाया तथा अविद्यारूपी शत्रुका अन्त कर दिया। उन्होंने

आत्माकी खोजमें प्रवृत्त असंख्य लोगोंका सही-सही दिशामें पथ-प्रदर्शन किया। यह पूछनेपर कि 'मरकर क्या होंगे', उन्होंने कहा कि 'तुम क्या जानना चाहते हो कि तुम मरकर क्या होगे, जब तुम्हें यही नहीं ज्ञात है कि मरनेके पहले तुम क्या हो?' रमण महर्षिने आत्मजिज्ञासाका राजपथ—सहज तथा साधननिरपेक्ष विचार-प्रधान मार्ग प्रशस्त किया। आत्मज्ञानकी प्राप्तिके बाद कुछ भी जाननेके लिये नहीं रह जाता, आत्मा सम्पूर्ण है, परमानन्दमय है—ऐसा उनका अनुभव था। वे आत्मार्पित महात्मा थे।

महर्षिने कहा कि 'आत्मामें संस्थित होनेपर ही आत्मदर्शन—आत्मसाक्षात्कार सहज सुलभ होता है। इस जीवनके पीछे शाश्वत, निराकार, सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा है, उसीकी खोज करनी चाहिये। परमेश्वरको जाननेके पहले अपने-आपको जानना चाहिये। आत्मासे भिन्न परमात्माकी सत्ता—स्थिति ही नहीं है। परमात्मा आत्माभिव्यक्ति हैं। संसार आत्माको न जाननेके कारण ही दुःखी है। पारमार्थिक सत्ता ही सत्य है। चेतनता आत्मचैतन्यका ही नाम है।' महर्षि रमणने आत्मसाधनाके क्षेत्रमें तन्मयी निष्ठाको महत्त्व दिया कि आत्मस्थिति ही आत्मज्ञान है। उन्होंने आत्मामें स्वस्थ, स्वरूपस्थ होनेकी सीख दी। अच्छा और बुरा—दो मन नहीं हैं। वासनाके अनुरूप अच्छे और बुरे मनका स्वरूप हमारे सामने आ जाता है। महर्षिने घोषणा की कि 'आत्मसिद्धि ही सबसे बड़ी सिद्धि है। दुःखका कारण बाहर नहीं है, यह तो अपने ही भीतर है। दुःखकी उत्पत्ति अहंकारसे होती है।'

विश्वके संत-साहित्यमें महर्षि रमणको अमित गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनका जीवन वेदान्त-सिद्धान्तका चिन्मय प्रतीक था। ऐसे तो सब संत-महात्मा पूज्य हैं, पर विक्रमीय उन्नीसवीं और बीसवीं शतीके संतत्रयीमें परमहंस रामकृष्ण, योगिराज अरविन्द और महर्षि रमणके नाम बड़ी श्रद्धासे परिगणित किये जा सकते हैं। महर्षि पूर्ण जीवन्मुक्त थे। वे लोगोंको नेत्र-दीक्षा दिया करते थे। वे जिनकी ओर कृपाभरी दृष्टि डाल देते थे, वे प्राणी कृतार्थ और धन्य हो जाते थे। वे मौन गुरु थे।

महर्षि रमण आत्मलीन होनेके समयतक रमणाश्रममें ही रहे। संवत् १९५७ वि०में उनके बड़े भाई नागस्वामीका शरीर छूट गया। उसके बाद उनके चाचा नेल्लियप्पैय्यरका भी स्वर्गवास हो गया। उनकी माता अपगम्मालका भी देहावसान हो गया। महर्षिने स्कन्दाश्रमसे थोड़ी दूरपर पहाड़ीकी तलहटीमें माताकी समाधि बनवायी। वे छः माह-तक नित्य समाधिका दर्शन करने जाया करते थे। एक दिन महर्षि समाधिके निकट बैठ गये, वहाँसे फिर अन्यत्र कहीं नहीं गये। उसी स्थानपर रमणाश्रमका निर्माण हुआ।

समस्त विश्वमें महर्षि रमणके अनुयायी बहुत बड़ी संख्यामें पाये जाते हैं। उनके सम्पर्कमें विशेषरूपसे आनेवाले काव्यकण्ठ गणपतिशास्त्रीने 'रमणगीता' की रचना की। टी० वी० कपालिशास्त्रीने 'सद्दर्शन-भाष्य' और 'महर्षिके साथ सम्भाषण' पुस्तकें रचीं। कवि-योगी शुद्धानन्द भारतीने 'रमण-विजय' लिखी तथा पाल ब्रान्टनने 'गुप्त भारतकी खोज', 'रहस्य-पथ' और 'अरुणाचल-संदेश' नामक पुस्तकोंकी रचना की।

महर्षि रमण आत्म-शान्तिके अगाध समुद्र थे। वे तमिळ साहित्यके अच्छे ज्ञाता थे; अंग्रेजी, संस्कृत, तेलुगु और मलयालम् आदि भाषाओंकी भी उन्हें जानकारी थी। उन्होंने औपनिषद ब्रह्मका आत्मसाक्षात्कार किया। दक्षिण भारतका कैलास—अरुणाचल उनकी दिव्य उपस्थिति और आत्मज्योतिसे धन्य, कृतार्थ और गौरवान्वित हो उठा।

महर्षि रमण संवत् २००७ वि०में (सन् १९५० ई० के १४ अप्रैलको) आत्मलीन हो गये। उनके महाप्रयाणके अवसरपर उपस्थित भक्तमण्डलीने महर्षिद्वारा रचित 'अरुणाचल-स्तोत्र'का पाठ किया। महर्षि रमण चिन्मय आत्माकी मानवाकृति थे। वे आत्मज्ञानी संत, ब्रह्मयोगी और आत्मसिद्ध महात्मा थे। अरुणाचल उनकी अमरताका भौम स्मारक है।

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

शरीरके ठीक रहते हुए ही इसका सदुपयोग कर लेना चाहिये

आपके जीवनका वही क्षण सार्थक है, जिस क्षण आप प्रिया-प्रियतमका चिन्तन करते हैं। चाहे उत्तम-से-उत्तम कर्म हो, पर यदि वह भगवत्-संयोगसे रहित है तो उसमें दोष आये विना रह नहीं सकता। अतः कोई-सा काम करें, प्रिया-प्रियतमके चिन्तनको प्रधानता देकर ही करें।

जबतक शरीर काम देता है, तबतक इन्द्रियोंको, मनको आप इच्छानुसार भगवत्सम्बन्धमें नियोजित कर सकते हैं। पर पता नहीं, कब शरीर लाचार हो जाय, ऐसे समयमें विना अभ्यास भगवच्चिन्तन होना बड़ा कठिन हो जाता है। उस समय शरीरकी पीड़ाका ही चिन्तन अधिकांश प्राणियोंको होता है। अतः शरीरके ठीक रहते हुए ही इसका सदुपयोग कर लेना चाहिये।

एकमात्र श्रीकृष्णकी कृपा ही मनुष्यकी रक्षा करती है

देखें, मैं जब अपने जीवनको देखता हूँ तो यह बात विल्कुल स्पष्ट दीखती है कि मैं पग-पगपर फिसलता रहा हूँ और श्रीराधाकृष्ण मुझे पग-पगपर सँभालते रहे हैं। यदि वे न सँभालते तो न जाने जीवन किधर बह जाता। यदि श्रीराधाकृष्णने मुझे बचाया-सँभाला है तो किसीको मैं क्या बचाऊँगा ? बचानेवाले-सँभालनेवाले वे एक हैं। जगत्‌में मायासे पार हो जाना सचमुच बड़ा ही कठिन है। मेरी तो ऐसी ही दृढ़ धारणा है कि जिसे श्रीराधाकृष्ण निकालेंगे, वही मायासे निकल सकता है; अपना पुरुषार्थ तनिक भी काम नहीं दे सकता। जिस समय विषयोंका प्रलोभन आता है, सारा विवेक निष्फल हो जाता है। एकमात्र श्रीकृष्णकी कृपा ही मनुष्यकी रक्षा करती है। इसलिये हमलोगोंको चाहिये कि चिन्ता विल्कुल छोड़ दें। जिस दिन श्रीराधाकृष्ण चाहेंगे, उस दिन ही मनुष्य विषयोंसे मुख मोड़ सकता है। एक बात और है—जिसने श्रीकृष्णकी शरण ली है, किसी-न-किसी दिन श्रीकृष्ण उसका अवश्य उद्धार करेंगे ही।

भजनके लिये काम छोड़नेकी आवश्यकता नहीं

भजनका सम्बन्ध मनसे है। काम छोड़नेपर भी मन तो साथ छोड़ेगा नहीं। जो मन आज है, वही फिर भी तरह-तरहके धोखेसे भजनसे हट सकता है। इसलिये पहले कुछ दिन अलग रहकर अच्छी तरह भजनका अभ्यास करके देखना चाहिये। भजनमें मन लग जाय तो फिर सारे संसारका काम भले ही चौपट हो जाय, कोई हानि नहीं। पर भजनमें मन न लगकर प्रमादका जीवन न बने—इस विषयमें विशेष सावधान रहना चाहिये।

और क्या चाहिये ?

आप सत्सङ्गसे पूरा-पूरा लाभ उठानेकी चेष्टा कर रहे हैं, सो अच्छी बात है। आपको अब करना ही क्या है ? भजन और सत्सङ्गमें ही तो शेष जीवन बिता देना है। फिर उसमें उत्साहकी कमी तो आनी ही नहीं चाहिये। संतोंका सङ्ग हो, नाम-जप हो तथा भगवान्‌के रूपकी झाँकी होती रहे, बस, और क्या चाहिये ?

मनको एकमात्र प्रिया-प्रियतमकी ओर केन्द्रित करें

सत्सङ्गसे पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिये। पूरा लाभ यही है कि मन भगवान्‌में पूर्णतया लग जाय; सब ओरसे प्रीति हटकर एकमात्र प्रिया-प्रियतमकी ओर केन्द्रित हो जाय—

नरक-स्वर्ग-अपवर्ग-आस नहिं त्रास है।
जहँ राखौ तहँ रहौं मानि सुखरास है॥
देव ! दया करि दान 'न भूलौं केलि' को।
भगवत वलित तमाल विलोकौं बेलि को॥
दुख-सुख भुगते देह, नहीं कछु संक है।
निंदा-अस्तुति करौ राव क्या रंक है॥
परमारथ ब्यौहार बनौ कै ना बनौ।
अंजन ह्वै मम नैन रसिक भगवत सनौ॥

एक ही परामर्श !

मैं तो आपको एक ही परामर्श देता हूँ—प्रिया-प्रियतमको कम-से-कम पाँच मिनटपर तो याद कर ही लें।

* * *

जैसे हो, वैसे प्रिया-प्रियतमकी अखण्ड स्मृति बनी रहे, यही करना है। आप अवश्य करें—यही मेरा सप्रेम अनुरोध है।

जापानी कलामें श्रीसरस्वती

(लेखक—डॉ० श्रीलोकेशचन्द्रजी, डी० लिट्०)

सरस्वती या 'प्रवाहिनी वाग्मिता'—प्रज्ञाकी देवी, सृजनमें व्यक्त होनेवाली वाणीकी माता है। वह 'पारमिता वाक्' है। पुराणोंमें वह और लक्ष्मी श्रीविष्णु-प्रिया हैं। जापानमें सरस्वती (जापानी भाषामें बेन-तेन या बेन-जाई-तेन) लक्ष्मीके साथ आठवीं शताब्दीसे मिलती है। तोदाईजी विहारके इतिवृत्तोंमें कहा गया है कि लक्ष्मी और सरस्वतीकी पूजा करनेका किचीजो-गेक्का उत्सव सर्वप्रथम सन् ७२२ ई०में मनाया गया। यह वही वर्ष रहा होगा जब इन दोनों प्रतिमाओंकी प्राणप्रतिष्ठा की गयी होगी। तबसे तोदाईजी, नारा नगरमें किचीजो-गेक्का उत्सव प्रतिवर्ष मनाया जाता रहा है।

तोदाईजीकी सरस्वती-प्रतिमा देवी-देवताओंके क्रोधी रूपोंके विपरीत शान्त प्रकारकी है। उसकी यह शान्त प्रकृति सुन्दर सँकरे नेत्रों और प्रसन्न ओष्ठोंके अङ्कनमें दिखायी देती है। पहले इस सरस्वती-प्रतिमाकी आठ भुजाएँ थीं, जिनमेंसे पाँच भुजाएँ अभी वर्तमान हैं; परंतु किसीमें भी उनके मूल लक्षण नहीं हैं। उसके आठ हाथोंमें कभी धनुष, बाण, खड्ग, त्रिशूल, परशु, वज्र, चक्र (धर्मचक्र) और पाश थे। इस प्रतिमाको ९५४ ई०में लगी भयंकर आगसे हानि पहुँची, जैसा कि फूजीवारा-कालमें लिखे गये ग्रन्थ तोदाईजी योरोकु सं० ४ में अभिलिखित है। इन प्रतिमाओंको अतिथि देवताके रूपमें संगात्सु-दो हालमें आश्रय दिया गया। वे अब श्वेत-सी मिट्टीके रंगकी रह गयी हैं, जिससे प्रकट होता है कि वे अनपकाई मिट्टीकी बनी हुई हैं। सरस्वती-प्रतिमा साढ़े छः फुटकी है।

लक्ष्मी और सरस्वतीकी पूजा सन् ७६४में अच्छी फसल-प्राप्तिके लिये तोदाईजी विहारमें किये गये उत्सवसे आजतक लोकप्रिय रही है। अष्टभुजा सरस्वती शिनकाकु (११८० ई०) द्वारा लिखित तथा इस समय निन्नाजी विहार, क्योतोकी ५७ आवलियोंमें सुरक्षित, बैस्सोन-जाक्की (देव-वर्णनावलि) में दिखायी गयी है। इसमें सरस्वतीका यह मन्त्र सिद्धं लिपिमें दिया गया है—

'सरस्वत्यै स्वाहा। नमः सरस्वत्यै महादेव्यै स्वाहा। नमो भगवति महादेवि सरस्वति सिध्यतु मन्त्रपदमि स्वाहा।' इसमें इसके चार रूपोंके चित्र हैं।

१—सरस्वती तन्त्री लिये हुए।

२—सरस्वती वीणा लिये हुए।

३—अष्टभुजा सरस्वती जिसमें तोदाईजी सरस्वतीके त्रिशूलके स्थानपर बाँसके डंडेके अतिरिक्त अन्य सभी विशेषण हैं।

४—षड्भुजा सरस्वती, दो हाथ, नमस्कार-मुद्रामें तथा शेषमें खड्ग, त्रिशूल, वज्र-घण्टिका, पाश।

अष्टभुजा सरस्वती श्रीदेवीके छोटे मन्दिरके १२१२ ई०के फलकपर चित्रित की गयी है, जो तोक्यो ललितकला विश्वविद्यालय, तोक्योमें सुरक्षित है। इसमें अष्टभुजारूप-वाले सभी आयुध हैं; परंतु इसके ऊपरकी ओर दो धर्मपाल तथा नीचेकी ओर देवी हारीति और मारीचि बनायी हुई हैं।

अष्टभुजा-सरस्वतीका रूप शोचो (१२५०—१२८२ई०)

रचित विश्वकोशीय ग्रन्थ असाबाशोमें भी दिया हुआ है। इसके चित्रमें भी आठों आयुध हैं, किंतु ग्रन्थमें वीणाको ही सरस्वतीका प्रतीक बताया गया है।

कोयासानके एंस्तुजी विहारमें रखे हुए जुजो-शो (चित्रोंका चयन) में भी सामान्य अष्टभुजा सरस्वतीका चित्र दिया गया है।

शिका-शो-जुजो (चार आचार्योंद्वारा उतारे गये चित्र)में अष्टभुजा सरस्वती थोड़े अन्तरसे दिखायी गयी है। खड्ग और परशुके स्थानपर इसमें एक दूसरेपर रखे दो खड्ग दिये गये हैं। वीणा लिये हुए सरस्वतीका चित्र भी दिया गया है।

दाइगोजी विहार, क्योतोमें रखे हुए दाइगोत्रोन जुजोमें अष्टभुजा सरस्वतीका चित्र दिया हुआ है, जिसमें त्रिशूलकी जगह बाँसका डंडा है।

दाइगोजी, क्योतोमें रखी हुई तेम्बु-ग्यो-जो आवलिमें अष्टभुजा सरस्वतीका चित्र लापरवाहीसे बनाया गया है और पाशयुक्त भुजाकी उपेक्षा कर दी गयी है। उसी आवलिमें कमल और चिन्तामणि लिये एक और प्रतिमा है, जिसपर सरस्वतीका अभिधान दिया गया है, परंतु अपने आयुधोंके कारण इसको श्रीदेवी लक्ष्मी माना जा सकता है।

कानाजावा-बुंको, कानाजावामें रखे हुए शोसोन-जुजो-शू (अनेक देवताओंके चित्रोंका संग्रह) में अष्टभुजा सरस्वतीके सामान्य रूपका चित्र है, जिसकी दो दाता भेंट चढ़ाकर अर्चना कर रहे हैं। इन आवलियोंमें तन्त्री लिये हुए तथा वीणा लिये हुए द्विभुजा सरस्वतीके चित्र भी हैं।

भारतमें अष्टभुजा सरस्वती दुष्प्राप्य प्रतीत होती है। खजुराहो-संग्रहालयकी एक अष्टभुजा मूर्तिके निचले दो हाथोंमें वीणा है, जिसमें ऊपरवाला दायाँ हाथ वीणा-वादन कर रहा है तथा शेष पाँच हाथ टूटे हुए हैं। एक अन्य भारतीय रूपमें अष्टभुजा सरस्वतीको वीणा, ग्रन्थ, माला, अङ्कुश- के साथ तथा दूसरे रूपमें है, बाण, गदा, भाला, चक्र, शङ्ख, घंटी हल और धनुष लिये हुए भी दिखाया गया है, (करपात्रीजी; 'श्रीभगवतीतत्त्व')। पर इनमेंसे कोई भी ठीक जापानी रूपों- जैसा नहीं है, यद्यपि अनेक आयुध समान हैं।

द्विभुजा-सरस्वती

अष्टभुजा सरस्वतीके अतिरिक्त इसका दूसरा जापानी रूप द्विभुजा सरस्वतीका है। चतुर्भुजा सरस्वती जापानमें नहीं पहुँची।

वीणा (जापानीमें बीवा)-वादिनी द्विभुजा सरस्वतीको सर्वप्रथम कोबो दाइसीद्वारा चीनसे लाये गये युग्म मण्डलोंमेंसे एक महाकरुणागर्भ मण्डलमें ८०६ई०में चित्रित किया गया। जापानमें ये अनेक बार चित्रित किये गये। इनकी प्राचीनतम उपलब्ध प्रतियाँ ८२४ ई० (ताकाओ मण्डल), ८९९ ई० (शिंगोन-इन्, तोजीमें रखी प्रति), ९५२ई० (दाइगोजी मण्डल), मध्य हेई युग (कोजिमा मण्डल), १०३५ ई० (केन-ईकी एक वर्ण प्रति), १११२ ई०, ११९०-९८ ई० (केनक्यू युग) आदि हैं। इन मण्डलोंमें सरस्वतीको बाहरी भागमें नीचे बायीं ओर बनाया गया है। शिंगोन या मन्त्रयानकी देवावलीके साथ-साथ द्विभुजा सरस्वतीकी भी बहुत अर्चना की जाने लगी।

कोयासानके रेइहोकान संग्रहालयमें वीणावादिनी, शिलासीन द्विभुजा सरस्वतीका सुन्दर चित्र है। यह स्याहीसे रेशमपर बना हुआ है।

त्सुरुगाओका हाशीमान मठमें द्विभुजा सरस्वतीकी १३वीं शताब्दीकी एक प्रतिमा है, जिसे रेशमी वस्त्रसे अलंकृत किया गया है तथा हाथमें एक छोटी वीणा दी गयी है। जिस युगमें इसकी प्रतिमा बनी, उसमें यथार्थवादके प्रति बहुत आग्रह था। देवताओं और भिक्षुओंकी मूर्तियोंका निरम्बर शिल्पन करके उन्हें वास्तविक वस्त्र पहनाये जाते थे। देवी सरस्वतीकी यह एकमात्र नग्न मूर्ति भी इसी युगकी है। जापानी कलामें नग्न नारी-मूर्तियाँ बिल्कुल नहीं हैं।

शिन्गु-गोम-होंजोन-नाराबिनी-कोंजोकु-जुजो (प्रधान देवताओं तथा चार प्रकारके होममें उनके अनुचरोंके चित्र) में जिसे ८२१ ई०में चिसेनकी शैलीमें बनाया गया है, वह वीणा और ······लिये हुए द्विभुजा सरस्वतीका चित्र है।

तेरहवीं शताब्दीके खोशोन (१२७९–१३४९) के ब्याकु-होक्कु-शो, 'श्वेत रत्नकी मौखिक परम्परा', ग्रन्थका १४९वाँ अध्याय सरस्वतीकी पूजाविधिके विषयमें है।

निजूहाची-बु-शू नाराबिनी-जूनी-शिनशो-जु (२८ प्राणी और १२ देवसेनापतियोंके चित्र) में, जिसकी प्रति १३५९ ई०में बनायी गयी, सरस्वती गुणदेवीको दो हाथोंवाली एक मुद्रामें तथा दूसरा कमल पुष्प लिये हुए चित्रित किया गया है।

कुद्दारा बौन-जुजौ—अर्थात् 'श्रीकुद्दाराकी प्रतिके चित्र'में द्विभुजा सरस्वती दो त्रिशूल लिये हुए दिखायी गयी है।

एईहानद्वारा संकलित जो-बोदाई-शू—(बोधि-प्राप्तिका संग्रह) में सरस्वतीपर समूचा प्रकरण दिया गया है।

युग्म-मण्डलपर ब्याकुहो-शो, (श्वेत रत्न संकलन) नामक बृहत् ग्रन्थ है, जिसमें सरस्वतीके मन्त्र दिये गये हैं तथा उसकी पूजा-विधि सविस्तर बतायी गयी है।

सरस्वतीको वाक्-स्वरपर भिक्षु चोजेनद्वारा १६६१–७३ ई० में प्रकाशित शुजी-शू, (बीज-संग्रह) में बीजाक्षर 'सु' द्वारा बताया गया है।

मिक्क्यो दाइजितेन 'तन्त्र-कोष' में सरस्वतीका बीज 'मण्डल वेन्जाइतेन्यो मन्दर' शब्दके अन्तर्गत दर्शाया गया है।

सरस्वतीकी विशिष्ट वीणा-मुद्रा भी है, जो जापानमें अबतक प्रचलित है। यह शिंगोन मुद्राओंके पाठ्यग्रन्थ 'शिंगन मिक्कयो-जु-इन-शू' (मन्त्रयानका मुद्रा-संग्रह) में चित्रित की गयी है।

आठवीं शताब्दीमें जापानमें आगमनके पश्चात् देवी लक्ष्मीके साथ सरस्वती लोकप्रिय बौद्धधर्मका अनिवार्य अङ्ग बन गयी है। इनकी लोकप्रियता इतनी दूर-दूरतक फैली हुई है कि उन्हें देशी शिन्तो देवमण्डलमें भी ले लिया गया है। सरस्वतीकी वाग्मितामें प्रवीणता, प्रज्ञा, आयुष्य तथा युद्धमें विजय देनेके अतिरिक्त प्राकृतिक उत्पातोंसे सुरक्षा प्रदान करनेके लिये भी पूजा की जाती रही है.......... कोन्कोम्यो–क्यों (सुवर्णप्रभास सूत्र) के अनुसार वह एम्मा-ओ (यमराज) की अष्टभुजा बहन कही गयी है।

सरस्वती प्रत्येक घरको पवित्र करनेवाली सात भाग्य-देवताओंमेंसे एक देवीके रूपमें घर-घरकी देवी बन गयी है। यहाँ उसे सर्वदा वीणावादिनी-रूपमें दिखाया जाता है तथा वह संगीत एवं कलाकी अधिष्ठात्री देवी है। 'रीति-रिवाजोंके उद्गम'की पुस्तक फुजोकुत्सुके अनुसार बीवा या वीणा साढ़े तीन फुटकी है तथा वह स्वर्ग, धरा और मानवकी प्रतिनिधि है; इसके पाँच अङ्ग मानवताके पाँच गुणों तथा इसके चार तार वर्षकी चार ऋतुओंके सूचक हैं।

जापानमें सरस्वतीको समर्पित कई मन्दिर हैं, जिनमें कोकीजी मन्दिर उल्लेख्य है। इसमें वीणायुक्त द्विभुजा सरस्वती अधिष्ठित हैं। सरस्वतीका नियमित वार्षिक-होम-उत्सव इस विहारकी विशेषता है। इस अवसरपर उत्सवमें भाग लेनेवालोंको उसके माहात्म्ययुक्त काष्ठ-मुद्रित चित्र दिया जाता है। माहात्म्यमें कहा गया है—'कोकीजी विहारके प्रधान मन्दिरकी सरस्वती पुण्यमयी गुह्य देवी है। वह तथागत शाक्यमुनिकी अनुगता है। वह सभी चेतन प्राणियों-की करुणामयी माता है। उसका पुण्य प्रताप तीन सहस्र जगत्में व्याप्त है। वह धनदात्री है। वह अद्भुत प्रज्ञा है। वह आयुष्य और आनन्द देनेवाली है। संगीत और वाग्मिताकी अधिष्ठात्री होनेसे वह 'सुन्दर शब्ददेवी' भी कही जाती है। लाभ, गुण और ज्ञानकी देवी होनेसे वह गुणदेवी है, यह सरस्वती वीणावादिनी है। यह उन सबकी इच्छा पूरी करती है, जो चतुरता, धन या लाभ, वाग्मिता, मधुर स्वर, संगीत या प्रज्ञाके लिये इसकी उपासना करते हैं। पंद्रह कुमारियाँ प्रथमसे पंद्रहवें दिनतक इसकी सेवा करती हैं। एक सूत्रमें कहा गया है कि 'यदि कोई निर्धन हो तो वह सात दिनतक मेरा होम करे। मैं उसे अनन्त धन-प्राप्तिका वर दूँगी।'

उपर्युक्त विवरणसे पता चलता है कि जापानी मूर्तिकलामें सरस्वतीको निम्नलिखित दस प्रकारसे दिखाया गया है—

अष्टभुजा सरस्वती

१–बाण, धनुष, खड्ग, त्रिशूल, परशु, वज्र, चक्र और पाश लिये हुए। यह अष्टभुजा सरस्वतीका सामान्य रूप है।

२–त्रिशूलकी जगह बाँसका डंडा लिये हुए।

३–खड्ग और परशुकी जगह एक दूसरी पर आड़ी रखी दो तलवारें लिये हुए।

षड्भुजा सरस्वती

४–दो हाथ नमस्कार-मुद्रामें तथा खड्ग, त्रिशूल (?), वज्र-घंटी, पाश (?) लिये हुए।

द्विभुजा सरस्वती

५–वीणा लिये हुए। यह इस देवीका सामान्यतम रूप है।

६–वीणा और खड्ग (?) लिये हुए।

७–तन्त्री लिये हुए।

८–कमल और चिन्तामणि लिये हुए।

९–एक हाथमें कमल लिये तथा दूसरा मुद्रामें।

१०–दो त्रिशूल लिये हुए।

इनके अतिरिक्त सरस्वतीको बीज सु, विस्तृत बीज-मण्डल तथा अपनी विशिष्ट मुद्राद्वारा भी दिखाया गया है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति बहुत प्राचीन कालसे जापानमें पहुँच चुकी थी और उसका प्रभाव तबसे आजतक किसी रूपमें बना हुआ है।

(अंग्रेजी लेखके रूपान्तरकर्ता—श्रीबाबूरामजी वर्मा)

बंगालमें वैष्णव-धर्मकी धारा

(लेखक—श्रीरासमोहनजी चक्रवर्ती, एम्० ए०, पी-एच्०डी०, पुराणरत्न, विद्याविनोद)

[पृष्ठ ५११ से आगे]

प्राक्-चैतन्ययुगमें बङ्ग-देशमें वैष्णव-धर्म और वैष्णव-साहित्य

गौड़ीय वैष्णव-धर्मके संस्थापक और प्राण-पुरुष श्रीचैतन्यमहाप्रभु पंद्रहवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें नवद्वीपधाममें अवतीर्ण हुए और उन्होंने राधाकृष्ण-उपासना-मूलक गम्भीर आध्यात्मिक तात्पर्यपूर्ण प्रेमधर्मका प्रचार किया। उनके दिव्य आविर्भावके प्रायः तीन सौ वर्ष पहलेसे क्षेत्र तैयार करनेका कार्य होता आ रहा था। जिन लोगोंने अपने जीवनकी साधना, साहित्य-रचना और कीर्त्तन आदिके द्वारा इस भाव-प्रवाहको जन-समाजमें बहुसम्मानित किया था, वे थे भक्तकवि जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास ! कृष्णदास कविराज-प्रणीत श्रीचैतन्य-चरितामृत-ग्रन्थमें लिखा है कि 'श्रीचैतन्यदेव इनकी पदावली श्रवण-कीर्तन करके विशेष प्रसन्न होते थे—

विद्यापति चण्डीदास श्रीगीतगोविन्द ।
एइ तीन टिते कराय प्रभूर आनन्द ॥
(मध्य, १०)

(क) जयदेव

भक्तकवि जयदेव गोस्वामीने बारहवीं शताब्दीके मध्यकालमें पश्चिम वङ्गके वीरभूमि जिलेमें अजय नदीके तीरवर्ती केन्दुविल्व ग्राममें जन्म लिया था। ये नृत्य-गीतके द्वारा अपने उपास्य देवता राधा-कृष्णकी सेवा करते थे। जयदेवने राधा-कृष्णको केवल काव्यकी नायिका-नायकके रूपमें ही नहीं, वल्कि उपास्य परम देवताके रूपमें ग्रहण करके एक नवीन साधन-मार्गका प्रवर्त्तन किया है।

जयदेवका 'गीतगोविन्द' एक ही साथ संस्कृत काव्य-साहित्यमें तथा संगीतक्षेत्रमें स्वरकार कवि जयदेवका वरणीय अवदान है। उनकी यह कोमल-कान्तपदावली, केवल बङ्गदेशमें ही नहीं, वल्कि उत्कल, राजस्थान, तमिळ, आन्ध्र और केरलप्रदेशोंमें सैकड़ों वर्षोंसे लोग गाते आ रहे हैं। आज भी पुरीके श्रीजगन्नाथ-मन्दिरमें तीनों कालोंमें गीतगोविन्दका पद-गान होता है। भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें विभिन्न समयमें गीतगोविन्दके ऊपर सैकड़ों टीकाएँ लिखी गयी हैं तथा अनुकरणमें दस-बारह काव्य रचे गये हैं। केवल गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय ही नहीं, वल्लभ-सम्प्रदाय भी गीतगोविन्दको अपना प्रमुख धर्मग्रन्थ मानता है। भक्तकवि जयदेवने जो अपने 'गीत-गोविन्द'में 'मङ्गल-समुज्ज्वल गीति' गाया है, वही उज्ज्वल रस गौड़ीय वैष्णवका काव्य, वैष्णव-धर्म और दर्शनका सारतत्त्व है। श्रीचैतन्यदेवके प्रिय पार्षद, आजीवन ब्रह्मचारी, सुपण्डित, रसज्ञ और परमभक्त स्वरूपदामोदर जयदेवकी पदावलीका गान करके नीलाचलमें श्रीचैतन्य-देवको उनकी दिव्योन्माद दशामें आनन्द प्रदान करते थे। इसी कारण अन्यान्य वैष्णव महात्माओंके अग्रणीके रूपमें जयदेव आज भी वङ्गदेशमें पूजित हो रहे हैं।

(ख) विद्यापति

मिथिलाके श्रेष्ठ कवि विद्यापति चौदहवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें पैदा हुए थे। विद्यापतिने जयदेवका अनुसरण करके मैथिलि भाषामें वैष्णव-पदावलीकी रचना की थी तथा उनका चित्त उसी रससे भरपूर था। विद्यापतिने तरुण अवस्थामें कवित्वके कारण विसपी ग्राम दानमें प्राप्त किया था और उसके साथ ही 'नव जयदेव' उपाधिसे विभूषित हुए थे।

विद्यापति मैथिल भाषामें राधाकृष्णके प्रेमलीला-सम्बन्धित वैष्णव पदोंकी रचना करने लगे। वाक्य-विन्यासमें, छन्दोंके झंकारमें तथा अलंकारशास्त्रके अनुसार नायक-नायिकाके चित्राङ्कनमें राजकवि विद्यापतिने अपूर्व दक्षता प्रदर्शित कर अमरत्व लाभ किया है।

(ग) चण्डीदास

इनके आविर्भावका काल चौदहवीं शताब्दी है। इन्होंने बङ्गदेशके वीरभूमि जिलेके नूरग्राममें जन्म लिया था। वहाँकी वाशुली देवीके मन्दिरके वे पुरोहित थे। नान्नूरके मैदानमें चण्डीदास साधना करते थे—निर्जनमें कृष्णप्रेमकी साधना। लोग उनके नामसे तरह-तरहकी बातें करते, नाना प्रकारकी निन्दा करते और उनको साधनाके पथसे विरक्त करनेकी चेष्टा करते थे; किंतु चण्डीदास कभी उससे विचलित न हुए। साधनाके द्वारा जीवनमें राधाकृष्ण-

प्रेमलीलाकी उपलब्धि करके कविने अनुपम भाषामें उसे व्यक्त किया है। चण्डीदासकृत राधाकृष्णविषयक पद बंगला साहित्यकी अलौकिक श्रेष्ठ सम्पद् हैं। इन पदोंमें भावोंकी जो गम्भीरता देखनेमें आती है, उसकी तुलना विरल ही है। गम्भीरतम भावोंके अभिव्यक्त होनेपर भी पदोंकी भाषा अत्यन्त सरल है। डा० श्रीसुनीतिकुमार चट्टोपाध्यायने लिखा है—"चण्डीदास प्राचीन बंगलाके श्रेष्ठ कवि थे। राधाकृष्णके प्रेमका अवलम्बन करके उन्होंने एक साथ गम्भीर भगवदनुभूति तथा प्रेमिल हृदयके साथ परिचय—दोनोंको ही सार्थकता-पूर्वक प्रदर्शित किया है। बंगला तथा भारतके आध्यात्मिक और प्रेमके साहित्यमें चण्डीदासके कुछ पद अमूल्य रत्न हैं।

(घ) माधवेन्द्रपुरी

श्रीचैतन्यदेवके आविर्भावके कुछ पूर्व जिन महापुरुषने प्रेम-धर्मके प्रचारमें आत्मनियोग किया था, उनका नाम माधवेन्द्रपुरी है (अनुमानतः १४००—१४८० ई०)। उनके न्यूनाधिक १९शिष्योंके नाम मिलते हैं। उनमें कुछ लोगोंके साथ श्रीचैतन्यदेवका साक्षात् सम्बन्ध था और कुछ लोग उत्तर कालमें उनके परिकर रूपमें गौड़ीय वैष्णव-धर्मके प्रचारमें प्रधान सहायक बने थे। माधवेन्द्रपुरीके उन शिष्योंमें ईश्वरपुरी, परमानन्द पुरी, श्रीरङ्गपुरी, केशवभारती, अद्वैताचार्य, नित्यानन्द, पुण्डरीक विद्यानिधि आदिका नामोल्लेख किया जा सकता है। इस विषयमें संदेह नहीं कि माधवेन्द्रपुरी और उनके शिष्योंने चैतन्यदेवके प्रेमधर्म-प्रचारके लिये उर्वर क्षेत्र प्रस्तुत कर रखा था।

बंगालका वैष्णव-धर्म और श्रीचैतन्यदेव

श्रीचैतन्यदेवके आविर्भावके पूर्व बङ्गदेशमें अनेक स्थानोंमें वैष्णव लोग पुराणोक्त भक्ति-धर्मकी न्यूनाधिक साधना करते थे, तथापि उस समय वहाँ शाक्त धर्म ही प्रबल था। प्रचलित वैष्णव-धर्मकी धारा जनसाधारणमें क्षीणरूपमें ही प्रवाहित हो रही थी। कृष्णपूजा, कृष्णभक्तिके विषयमें किसीको कुछ पता न था। भक्त-साधकोंकी संख्या नगण्य थी। जो लोग भक्ति-चर्चा करते थे, वे उपहासके पात्र थे। ऐसे समय और परिस्थितिमें बङ्गदेशमें एक असाधारण व्यक्ति उत्पन्न हुए, जिन्होंने प्रचलित वैष्णव-धर्मको अपने जीवनकी साधनाके द्वारा बहुत उन्नत और प्रभूत शक्तिशाली बना दिया। वे थे नवद्वीपके श्रीचैतन्य-देव। उनके जीवन और साधनामें वैष्णव-धर्म पूर्ण परिणतिको प्राप्त हुआ। श्रीचैतन्यमहाप्रभुद्वारा प्रवर्तित गौड़ीय वैष्णव-धर्म केवल बङ्गदेशका ही गौरव नहीं है, बल्कि विश्वमानवके धर्मभावकी अत्युच्च अभिव्यक्ति तथा साधकोंके लिये अमूल्य सम्पद् है।

श्रीचैतन्य देव १४०७ शकाब्द (१४८६ ई०) में फाल्गुनकी पूर्णिमाको नवद्वीपके एक सम्भ्रान्त ब्राह्मण पण्डितके घर उत्पन्न हुए थे। उनके पिताका नाम जगन्नाथ मिश्र और माताका नाम शचीदेवी था। वे लोग श्रीहट्टके ढाका दक्षिण ग्रामके अधिवासी थे, किंतु उनके पिता पुत्रके जन्मसे कुछ पहले ही नवद्वीपमें जाकर रहने लगे थे। चैतन्यदेवका पूर्व नाम विश्वम्भर था और पुकारनेका नाम था निमाई। उज्ज्वल गौरवर्ण होनेके कारण सब उनको गौराङ्ग कहकर पुकारते थे। बाल्य और किशोरावस्थामें भी उनकी बुद्धि और विद्वत्ता असाधारण थी, तथापि उस समय उनके भावी धार्मिक जीवनका कोई आभास नहीं मिलता था। अल्पा-वस्थामें ही पण्डित होकर वे नवद्वीपमें एक विद्यालय खोलकर बैठ गये और व्याकरण पढ़ाने लगे। निमाई पण्डितने लक्ष्मीप्रिया देवीका पाणिग्रहण किया, किंतु विवाहके कुछ ही दिन उपरान्त लक्ष्मीप्रियाका देहान्त हो जानेपर उनका दूसरा विवाह विष्णुप्रिया देवीके साथ हुआ। प्रथम विवाह-के बाद ही निमाई पण्डित पूर्वबङ्ग अर्थात् पद्मातीरवर्ती अञ्चलमें भ्रमण करके यथेष्ट अर्थ और कीर्तिलाभ करके नवद्वीप लौट आये।

तेईस वर्षकी अवस्थामें पिताको पिण्डदान करनेके लिये गया जाकर निमाई पण्डितने विष्णुके पादपद्मका दर्शन किया। और उसीसे उनको भावावेश होने लगा। तब वे माधवेन्द्रपुरीके शिष्य ईश्वरपुरीके पास गये और उनकी आध्यात्मिकतासे मुग्ध होकर उनसे दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेनेके बादसे ही निमाई पण्डितके चरित्रमें दिव्य भावान्तर उपस्थित हुआ। वे भगवत्प्रेममें तल्लीन होकर उन्मत्तवत् जीवन व्यतीत करने लगे। कुछ समयके बाद कुछ स्थिर होनेपर वे कुछ भक्तोंके साथ मिलकर श्रीमद्भागवत-पाठ, भगवत्प्रसङ्ग और हरिनाम-संकीर्तनमें दिन-रात काल-यापन करने लगे। उस समय बहुत-से विशिष्ट जन उनके पार्षद बने, जिनमें शान्तिपुरनिवासी प्रवीण वैष्णवाचार्य अद्वैत, वीरभूमिके एकचक्रा ग्रामके हड़ाई

ओझाके पुत्र अवधूत नित्यानन्द, वैष्णवधर्मान्तरित मुसल्मान हरिदास ठाकुर, निमाई पण्डितके सहपाठी और चरित्रकार मुरारिगुप्त इत्यादि मुख्य थे। भक्तिप्रचारके कार्यमें उनके दो प्रधान सहायक हुए नित्यानन्द और हरिदास। भक्तिभावके प्रभाव तथा नाम-कीर्तनके फलस्वरूप नवद्वीप और शान्तिपुर—दोनों प्रेमभावोन्मत्त हो उठे।

निमाई पण्डितने समझा कि केवल नवद्वीप और शान्तिपुरमें भक्तिधर्मका प्रचार करनेसे काम नहीं चलेगा, सारे वङ्गदेशमें तथा उससे बाहर इस धर्मका प्रचार न करनेसे सारा देश म्लेच्छभावापन्न हो जायगा, ऐसी आशङ्का है। संन्यासीके सिवा अन्य किसीसे धर्मकी बात कोई सुनना नहीं चाहता। अतएव निमाई पण्डितने चौबीस वर्षकी अवस्थामें गार्हस्थ्यका त्याग कर कटवाग्राममें केशवभारतीसे संन्यास ग्रहण किया, तब उनका नाम हुआ श्रीकृष्णचैतन्य तथा संक्षेपमें श्रीचैतन्य।

इसके बाद श्रीचैतन्य पुरी-जगन्नाथ धामको गये। वहाँ कुछ समय रहकर वे तीर्थ-भ्रमण करनेके लिये बाहर निकले। इस बार उन्होंने सारे दक्षिणदेश महाराष्ट्र और गुजरातका भ्रमण किया। इस तीर्थभ्रमणके फलस्वरूप उनको राय रामानन्द, परमानन्दपुरी, श्रीरङ्गपुरी आदि तत्कालीन अनेक भक्त-साधकोंसे भेंट हुई। द्वितीय बार वृन्दावन जानेके उद्देश्यसे गङ्गा-पथसे शान्तिपुर होकर गौड़में पहुँचे। साथमें लोगोंकी भीड़ होनेके कारण वह उस बार गौड़की सीमामें स्थित रामकेलीसे ही लौट आये। रामकेलीमें गौड़ाधिपति हुसेनशाहके दबीरखास—सनातन और साकिर-मलिक—रूपगोस्वामी, इन दोनों मन्त्रियोंसे उनकी भेंट हुई। चैतन्यदेवके संस्पर्शमें आकर उनको वैराग्य उत्पन्न हो गया और थोड़े ही दिनोंके बाद उन्होंने गृहस्थाश्रमका त्याग कर दिया। तीसरी बार श्रीचैतन्यने झारखण्ड अर्थात् छोटा नागपुरके अरण्य-पथसे मथुरा-वृन्दावनकी यात्रा की। मार्गमें काशी, प्रयाग आदि प्रधान-प्रधान तीर्थ पड़े। प्रयागमें उनको संन्यासी-वेषमें रूपगोस्वामीके साथ साक्षात्कार हुआ। लौटते समय काशीमें सनातनगोस्वामी भी उनसे मिले। इस प्रकार तीर्थभ्रमण और गमनागमनमें छः वर्ष बीत गये। श्रीचैतन्य-देवने सारे भारतका पर्यटन करके सर्वजनीन भक्तिधर्मका प्रचार किया। यह प्रचार उन्होंने वक्तृता या उपदेश देकर अथवा स्वर्गलाभ आदि प्रलोभन देकर नहीं किया। उनके अमल लोकोत्तर चरित्रके दिव्य प्रभावमें लोग उनके द्वारा आचरित धर्मको सानन्द ग्रहण करने लगे।

जीवनके अन्तिम अठारह वर्ष श्रीचैतन्यदेव नीलाचलके जगन्नाथधामको छोड़कर कहीं नहीं गये। एक दिव्यभावके आवेशमें आविष्ट होकर वे दिन-रात राधाकृष्ण-लीलाके ध्यानमें तन्मय रहते थे। प्रतिवर्ष रथयात्राके समय वङ्गदेशसे अद्वैताचार्य, नित्यानन्द, श्रीवास आदि भक्तगण आकर महाप्रभुके साथ सम्मिलित होते थे। उस समय नीलाचलमें अपूर्व आनन्दोल्लास प्रवाहित हो उठता था। अन्तमें कुछ वर्ष वे एक प्रकारसे बाह्यज्ञानरहित होकर दिव्योन्मादमें विह्वल होकर रहते थे। अन्तरङ्ग अनुचर और भक्तलोग राधाकृष्ण-लीला-विषयक पदावली और कीर्तन सुनाकर उनको कुछ सान्त्वना दिया करते थे। इस सम्बन्धमें कृष्णदास कविराज गोस्वामीने श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थमें लिखा है—

चण्डीदास विद्यापति रायेर नाटकगीति
कर्णामृत श्रीगीतगोविन्द।
महाप्रभु रात्रि-दिने स्वरूप रामानन्द सने
गाय शुने परम आनन्द॥ (मध्य० २)

महाप्रभुके आस्वाद्य ग्रन्थसमूहमें थे विद्यापति और चण्डीदासकी पदावली, राय रामानन्दरचित 'जगन्नाथवल्लभ नाटक', बिल्वमङ्गल ठाकुरका 'श्रीकृष्णकर्णामृत' तथा जयदेव-रचित 'श्रीगीतगोविन्द'।

अन्तमें १४५५ शकाब्द अर्थात् १५३३ ई० में आषाढ़ मासमें ४८ वर्षकी अवस्थामें नीलाचलमें श्रीचैतन्यदेवका तिरोभाव हो गया। वंग और उड़ीसादेशमें इनका प्रभाव इतना व्यापक और गम्भीर था कि जीवितावस्थामें ही वे ईश्वरके अवतारके रूपमें पूजे जाने लगे। दीक्षा और संन्यास-ग्रहणके बाद निरन्तर २५ वर्षतक उन्होंने एक ऐसे प्रेमोन्मादपूर्ण भक्तिकी धारा देशमें प्रवाहित की, उसका आवर्त्तन पूर्वभारतमें, विशेष करके बंगाल और उड़ीसामें आज भी वर्तमान है। उनके इस प्रचारमें धनी-दरिद्र, ब्राह्मण-शूद्र, पण्डित-मूर्ख आदिका भेदभाव न था। काशीके मार्गमें झारखण्डके कोल-भील-सन्थाल जातिके लोगोंसे आरम्भ करके काशीके प्रकाशानन्द सरस्वतीके समान महापण्डित, सब लोग उनके प्रेमधर्मका आस्वादन करके धन्य हुए थे। श्रीचैतन्यदेवकी सबसे बड़ी विशेषता थी, उनका अति अद्भुत दिव्य जीवन। जगत्के धर्म-प्रवर्त्तकोंमें सम्भवतः उन्होंने ही सर्वापेक्षा कम उपदेश दिया है। उनके मुखके उद्गारकी अपेक्षा उनके जीवन और दृष्टान्तने ही धर्मजगत्‌में नवयुग लाया है। 'आपनि आचारि धर्म जीवेरे शिखाय'—उन्होंने स्वयं जीवनमें भक्तिधर्मकी

साधना करके जीवको शिक्षा दी है। मानव-इतिहासमें ऐसी ईश्वर-प्रीति और कहीं देखनेमें नहीं आती। हरिनाम-कीर्तन और श्रवणसे उनके नेत्रोंसे झरझर अश्रु प्रवाहित होते, अङ्ग-अङ्गमें स्वेद, कम्प और पुलक दीख पड़ते थे, और अन्तमें वह मूर्च्छित हो जाते थे। वैष्णव ग्रन्थोंमें इसे महाभावकी संज्ञा दी गयी है। श्रीमद्भागवतमें महाभावका वर्णन है। वैष्णव कवियोंने कृष्णप्रेममें राधाके दिव्य उन्मादका बहुत वर्णन किया है। श्रीचैतन्यदेवके जीवनमें ये सब वर्णन चाक्षुष सत्य हो गये हैं। भगवत्प्रेम क्या वस्तु है, इसकी कल्पना और वर्णनको छोड़कर मनुष्य उसका साक्षात् प्रत्यक्ष करके धन्य हो गया। भगवान्‌के विरहमें चैतन्यदेवके महाक्रन्दन, आर्त्ति, भूतलपर लोटना, पत्थरपर मुँह रगड़ना, भगवत्सहवासमें विमल आनन्दोच्छ्वास, आहार-निद्रा भूलकर भगवद्गुणानुकीर्तन आदि व्यापारको देखकर लोग समझने लगे कि धर्म क्या वस्तु है, ईश्वरभक्ति किसे कहते हैं? थोड़े ही दिनोंमें जो सब श्रेणियोंके इतने लोग उनके प्रति आकृष्ट हुए थे, यहाँतक कि ईश्वरके अवतारके रूपमें उनके जीवनकालमें ही उनकी पूजा करने लगे थे, इसमें आश्चर्यकी कोई बात न थी; क्योंकि ऐसा उच्छ्वसित भगवत्प्रेम संसारके इतिहासमें और कहीं देखनेमें नहीं आता।

श्रीचैतन्यदेवके परिकर और गौड़ीय वैष्णव-धर्मका प्रचार

श्रीचैतन्यके द्वारा प्रवर्त्तित भक्तिधर्मके प्रचारमें सहायक हुए थे उनके अनुरागी, सुयोग्य, विश्वस्त परिकर-वर्ग। गौड़ीय वैष्णव-धर्मके आगे चलकर तीन केन्द्र हुए—(१) नवद्वीप, (२) नीलाचल और (३) वृन्दावन। नवद्वीपमें रहते समय धर्म-प्रचारमें प्रधान सहायक थे—अद्वैताचार्य, नित्यानन्द और हरिदास ठाकुर। संन्यास लेकर श्रीचैतन्य जब नीलाचल गये, तब उनकी अनुमति लेकर नित्यानन्द देशमें रहकर हरिनामका प्रचार करने लगे। बंगालीके सामाजिक जीवनमें नित्यानन्दकी असाधारण देन है। महाप्रभुके अभिप्रायके अनुसार नित्यानन्दने वैष्णव समाजमें सर्वसाधारणके लिये प्रवेशद्वार उन्मुक्त करके उनका सामाजिक दुर्गतिसे पूर्णरूपेण उद्धार किया। यदि नित्यानन्दने असाधारण प्रेम और मैत्रीके साथ द्वार-द्वार हरिनामका प्रचाररूप महत्कार्य नहीं किया होता तो गिरी हुई जातियोंके बहुत-से लोग इस्लामधर्म ग्रहण कर लेते।

नीलाचलमें रहते समय महाप्रभुके प्रधान अनुचर थे—स्वरूपदामोदर, राय रामानन्द, गदाधर पण्डित, जगदानन्द पण्डित, काशीमिश्र, वासुदेव सार्वभौम, परमानन्दपुरी और रघुनाथदास। महाप्रभुके लीलावसानके साथ-साथ यह केन्द्र निष्प्रभ हो गया।

वृन्दावनस्थ तृतीय केन्द्र षट् गोस्वामीद्वारा परिचालित था। महाप्रभुके तिरोधानके बाद सनातन और रूपगोस्वामी, रघुनाथदास, रघुनाथभट्ट, गोपालभट्ट और जीवगोस्वामी—ये छः गोस्वामी वृन्दावन-केन्द्रके तथा समस्त गौड़ीय वैष्णव समाजके नियन्ता हुए थे। इस वृन्दावन-केन्द्रमें केवल भक्ति और प्रेमकी चर्चा ही नहीं होती थी, बल्कि पूर्ण दैन्य, ब्रह्मचर्यकी कठोरता, गम्भीर शास्त्रचर्चा और ग्रन्थरचना आदि इस केन्द्रकी विशेषताएँ थीं; जिनके कारण यह असाधारण श्री और शक्तिसे सम्पन्न बन गया।

गौड़ीय वैष्णव-धर्म और दर्शन

महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवने वैष्णव-धर्मको एक नवीन रूप प्रदान किया था। वह नवीन वैष्णव-धर्म 'गौड़ीय वैष्णव-धर्म' के नामसे प्रसिद्ध है। इस धर्मका मूल स्वरूप संक्षेपमें यह है कि श्रीकृष्ण ही एकमात्र ईश्वर और आराध्य हैं, किंतु वे प्रेममय हैं। उनको प्राप्त करनेके लिये, उनके ईश्वरत्वकी बात भूलकर उनको पूर्णतः अपना समझकर प्रेम करना होगा। तत्त्वकी दृष्टिसे श्रीराधा सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी अर्थात् आनन्ददायिनी शक्ति हैं। शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न हैं, अतएव श्रीराधा और श्रीकृष्ण अभिन्न हैं; किंतु लीलारसास्वादनके लिये उन्होंने दो रूप धारण किये हैं। राधा-कृष्णकी लीला नित्य है। भक्तलोग इस लीलाका नित्य श्रवण, कीर्तन, स्मरण और वन्दन करें—यही उन लोगोंकी साधनाका मुख्य अङ्ग है।

गौड़ीय वैष्णव-मतका एक चमत्कार संक्षेपरूपमें हमको मिलता है श्रीमद्भागवतके टीकाकार श्रीनाथचक्रवर्तीके इस श्लोकमें—

> आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
> रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
> शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
> श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

'व्रजेन्द्रतनय श्रीकृष्ण ही आराध्य भगवान् हैं, वृन्दावन ही उनका परमधाम है, व्रजवधुओंके द्वारा गृहीत उपासना-पद्धति ही रमणीय है, भागवत शास्त्र ही निर्मल प्रमाण है तथा प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, यही श्रीचैतन्य महाप्रभुका मत है, हमारी भी इसीमें परम श्रद्धा है।' (क्रमशः)

जीवनकी प्रथम आवश्यकता—अभय

(लेखक—श्रीशिवानन्दजी)

जीवन एक वृक्षकी भाँति है, जिसपर उल्लास एवं मधुर मुसकान पुष्पोंकी भाँति खिलते हैं तथा गुण एवं कर्म फलोंकी भाँति लगते हैं। भय एक ऐसा भीषण रोग है, जिससे आहत होकर जीवनरूपी वृक्ष हरा-भरा रहकर लहलहा नहीं सकता, इसके फूल कुम्हला जाते हैं और फल कड़ुए हो जाते हैं। भय समस्त मानवीय शक्तियोंको चाट जाता है और जीवन एक बोझ बनकर रह जाता है। यदि जीवनका आनन्द लेना है तो भयके निराकरणका उपाय करना आवश्यक है। जीवन एक सुखद वरदान है, यदि मनुष्य भयमुक्त हो। जीवन एक अभिशाप है, यदि मनुष्य भयग्रस्त हो। जीवनके रहस्यको खोजनेके लिये और पूर्ण सुख प्राप्त करनेके लिये निर्भय होना नितान्त आवश्यक है। भय मनुष्यकी जीवन-धाराको विषाक्त कर देता है और सम्पर्कमें आनेवाले अन्य व्यक्तियोंके जीवनमें भी विष घोल देता है।

यदि मनुष्य इस गूढ़ रहस्यको समझ ले कि समस्त भय उसका अपना थोपा हुआ एक बोझ है तो भयकी निवृत्ति सम्भव है। भय एक मिथ्या कल्पना है, जिसे एक काली चादरके समान हमने स्वयं ओढ़ लिया है। भय कोई विवशता नहीं है। भय तो एक नासमझी है, एक अबोधता है, एक भयंकर भूल है।

हमें यह भी स्पष्टतः समझ लेना चाहिये कि भयके निवारणमें कोई भी हमारी सहायता नहीं कर सकता। हमें अपनी सहायता स्वयं ही करनी होगी। हम निश्चय ही दृढ़ संकल्पके द्वारा इस काल्पनिक काली चादरको क्षणभरमें उतारकर फेंक सकते हैं, अवश्य भयमुक्त हो सकते हैं, जीवनमें मस्ती ला सकते हैं और दिन-रात सुखी रहकर जीवनका पूरा लाभ उठा सकते हैं, जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।

भयसे चिन्ता उत्पन्न होती है। भय और चिन्ता मनुष्यका दम घोंट देते हैं। भय और चिन्ता एक धोखा है, मृग-मरीचिका है, छल है, निस्सार है, अयथार्थ है, मिथ्या है। यदि एक बार हम यह अच्छी प्रकारसे जान लें कि भयका भूत हमारी ही एक कोरी कल्पना है और इसमें कोई दम नहीं है तथा यदि हम दृढ़ संकल्पद्वारा इसका डटकर सामना कर लें तो क्षणभरमें ही यह विलुप्त हो जायगा।

जब हमें कोई विषम परिस्थिति घेरती है और ऐसा लगता है कि संकटके बादल मँडरा रहे हैं तो सहसा भयानक दुर्घटनाका भय मनको पकड़ लेता है। भय मनको दुर्बल कर देता है और मनुष्य परिस्थितिको सुधारने अथवा उसका सामना करनेके बजाय थककर हार मान लेता है और भाग्यको कोसने तथा परमात्माको दोष देने लगता है। यह मानवके दुःखकी सच्ची कहानी है।

भयकी ओषधि है विश्वास—ईश्वरकी कृपामें विश्वास, अपनी शक्तिपर विश्वास। ईश्वरकी कृपासे मैं संकटका सामना कर लूँगा, संकटको पार कर लूँगा—यह विश्वास मनुष्यको आगे ले जाता है। यदि मेरा एक द्वार बंद होगा तो प्रभु मेरे लिये दस अन्य द्वार खोल देंगे और मेरी कोई हानि कदापि न होगी। ईश्वर-विश्वासद्वारा मनुष्यका खोया हुआ आत्मविश्वास भी लौट आता है। ईश्वरकी सत्ता और ईश्वरकी अहैतुकी कृपापर विश्वास करनेवाला व्यक्ति कभी अधीर नहीं होता।

आत्मविश्वाससे धैर्य उत्पन्न होता है। धैर्य मनुष्यका सच्चा साथी होता है। धैर्य धारण करना सचमुच कठिन होता है, किंतु उसके फल सदैव मीठे होते हैं।

हम सोयी हुई संकल्पशक्तिको जगायें और यह दृढ़ निश्चय कर लें कि हमें एक साहसी पुरुषकी भाँति कमर कस-कर पूरी शक्तिसे विषम परिस्थितिका सामना करना है। दृढ़ संकल्प करते ही हमारी आधी विजय तो हो गयी, हमने आधा रास्ता पार कर लिया। विजयश्री-प्राप्तिका ध्रुव विश्वास धारण करना विजयका मूलमन्त्र होता है।

यदि भरसक प्रयत्न करनेपर भी परिस्थिति प्रतिकूल ही रहे और लक्ष्यपूर्ति सम्भव न हो सके तो उसे प्रभु-इच्छा मानकर सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये। मनुष्य कर्म कर सकता है, फल तो प्रभुके अधीन है। गीताका अमर उपदेश है—'कर्म करना तेरा अधिकार है, फलपर तेरा कोई अधिकार नहीं है—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' (गीता २। ४७) मानवकी अपनी सीमा होती है तथा ईश्वर-विधानका सत्कार करना हमारा धर्म होता है।

चीन देशके जगत्प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् कन्फ्युशसका कथन है कि 'भय और मृत्यु—इन दोनोंमें भय अधिक भयंकर है; क्योंकि मृत्यु तो एक बार ही प्रहार करती है, किंतु भय तो बार-बार हमें दबोच लेता है।' कन्फ्युशसके जीवन-वृत्तकी एक घटना प्रसिद्ध है। ये दार्शनिक संत भ्रमणप्रिय थे। किसी देशमें पहुँचनेपर वहाँके शासकने तीन पिंजरे उनके सामने रखे। एक पिंजरेमें चूहा था तथा उसके समीप सुन्दर खाद्य पदार्थ रखे थे, दूसरे पिंजरेमें एक बिल्ली थी, जिसके सामने दुग्धादि थे। एवं तीसरे पिंजरेमें एक श्येन (बाज) था, जिसके समक्ष माँस रखा था। तीनों कुछ नहीं खा रहे थे। शासकने इसका कारण महान् दार्शनिक कन्फ्युशससे पूछा। उन्होंने उत्तरमें कहा—'मूषक और बिल्लीको वर्तमान (श्येनकी उपस्थिति) का भय है और वे यह नहीं सोच सकते हैं कि यदि मरना ही है तो भूखे न मरें तथा इनके विपरीत श्येनको भविष्यका भय है, जो लोभ-मिश्रित है। श्येन सामने रखे हुए भोजनका तिरस्कार करके यह भय मान रहा है कि कहीं मूषक और बिल्ली चले न जायँ। तीनों भयग्रस्त हैं और यदि इन तीनोंको इसी प्रकार पिंजरेमें पास-पास रहने दिया जाय तो भोजन-सामग्रीके समीपस्थ होनेपर भी ये मिथ्या भयके कारण भूखे ही मर जायँगे।' यह है भयकी भीषणता।

संस्कृतमें एक सूक्ति है, जिसका आशय यह है कि 'भयसे भीत होनेके बजाय उससे निपटनेका प्रयत्न करना चाहिये—आगतं तु भयं वीक्ष्य प्रतिकुर्याद् यथोचितम्'। भय कल्पना-जगत्की एक विचित्र वस्तु है, जिसका प्रभाव मनुष्यके व्यक्तित्वको प्रकम्प एवं असंतुलनद्वारा जर्जरित एवं शोचनीय बना देता है। भयभीत मनुष्य सचमुच दयनीय होता है।

डरना और डराना पाप है। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि 'भयभीत एवं दुर्बल होकर जीना पाप है।' भगवान् महावीर कहते थे कि 'साधकको सदा निर्भय रहना चाहिये।' नेपोलियन कहता था कि 'यदि किसीको हारनेका भय है तो वह निश्चय ही हारेगा।' भय आनेपर मनःस्थिति ऐसी हो जाती है कि मनुष्य अकारण ही सफलताकी आशा छोड़ देता है और पराजयकी अचेतन कामना करने लगता है।

डरपोक मनुष्यको ही भय डरा सकता है। साहसी व्यक्तिके सामने भय डरकर भाग जाता है। भय यथार्थमें कुछ भी नहीं होता, उसकी कल्पना ही मनुष्यको विचलित, अधीर एवं अस्थिर बना देती है।

भय समस्त पापोंकी जड़ है तथा समस्त दुःखोंका मूल कारण है। भयभीत व्यक्ति कोई पुण्यकार्य नहीं कर सकता। भयभीत व्यक्ति मन खोलकर न सत्य कह सकता है न सत्य आचरण कर सकता है। डरनेवाला व्यक्ति किसी दायित्व-का निर्वाह भी नहीं कर सकता। वह प्रत्येक परिस्थितिमें चुप रहने और कतरानेका यत्न करता है। डरनेसे मानसिक विकास रुक जाता है और व्यक्तित्व भी विकसित नहीं हो सकता।

एक समय था, जब डंडा शिक्षाका एक आवश्यक अङ्ग था। आधुनिक ज्ञान प्रेमके आधारपर शिक्षा देना उचित मानता है। थोड़ा भय कभी उपयोगी हो सकता है; किंतु अतिशय भय होनेपर जीवनका विकास ही अवरुद्ध हो जाता है। 'भय बिनु होइ न प्रीति'—यह सिद्धान्त आततायीके सम्बन्धमें है। पापप्रवृत्त आततायीको पाप-कर्मसे हटानेके लिये साहसपूर्वक डराना और दण्ड देना आवश्यक हो जाता है।

साहसकी महिमा अद्भुत है। एक साहसी, शूर व्यक्ति सैकड़ों डरपोक कायरोंपर विजय पा लेता है। साहसके साथ विवेक, नीति और सात्त्विकताका सम्मिश्रण होना चाहिये। विवेकहीन व्यक्तिका अतिसाहस मूर्खताका परिचायक होता है। साहसका अर्थ गुरुजन-अवज्ञा, उच्छृङ्खलता, अशिष्टता कदापि नहीं हो सकता।

यदि जीवनका पूरा उपभोग करना है तो निर्भय बनना आवश्यक है। भौतिक अथवा आध्यात्मिक विकासके लिये अभयकी प्रथम आवश्यकता है। समस्त प्रगतिका मूलमन्त्र भी अभय ही है। डरपोक आदमीको दुनिया जीने नहीं देती और ऊपर उठने नहीं देती। दुनियाके अन्याय और झूठे कलंकोंका मुकाबला करनेके लिये और आगे बढ़नेके लिये अभयका पाठ पढ़ना होगा। यदि संसारको कुछ देना चाहते हैं, संसारमें कुछ अच्छा कर्म करना चाहते हैं तो भी डर छोड़कर साहसी होना पड़ेगा।

स्वतन्त्रता-संग्रामके वीर सेनानी लाला लाजपतराय कहते थे कि 'तेजीसे भागनेवाले इंसानके पीछे दुनियाके लोग भी भागते हैं और जो कोई भी आपके भागनेमें बाधा करता हो, उसे आप दूर फेंकते हुए चलें।'

कौन व्यक्ति निर्भय हो सकता है? जिसका अन्तःकरण निर्मल है, जो दिन-रात परोपकार, पर-सेवामें निरत है, जो बलिदानी है, जो दूसरोंका भय दूर करनेमें संलग्न है, जो

अपने व्यक्तिगत स्वार्थोंसे ऊपर उठ चुका है, जो क्षमाशील है, जो दूसरोंके लिये कष्ट उठाता है, जो तपस्वी है, जो देहाभिमान छोड़ चुका है, जो देहके प्रति अनासक्त है, जिसका मन प्रफुल्ल रहता है और जो सात्त्विकतासे ओत-प्रोत रहता है, जो कभी किसीको सताता नहीं है और अन्याय एवं अत्याचार-का निस्स्वार्थ प्रतिरोध करता है ।

ज्यों-ज्यों मनुष्य ईर्ष्या-द्वेष, घृणा आदि अपने विकारोंको दूर करता हुआ आत्मविजय प्राप्त कर लेता है तथा ज्यों-ज्यों उसके जीवनमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का समावेश होने लगता है; त्यों-त्यों उसमें सात्त्विक अभयका उदय होने लगता है ।

शुभ संकल्प एवं शुभ कर्मके अभ्याससे अभय-भाव पुष्ट होता है तथा मनोबल बढ़ता है । अन्तःकरणकी प्रवृत्तियोंको कुचलकर कुकर्म करनेसे मन निर्बल होता है और शुभ कर्म-सम्पादनसे मन सशक्त होता है । अभय होनेपर मनुष्यको अपमान, मृत्यु और विनाशका भय भी नहीं सताता है । निन्द्य कर्मकी इच्छा जागनेपर संयमसे काम लेना चाहिये तथा शुभ कर्म करते रहनेका शिवसंकल्प लेना चाहिये—'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।'

अभय और मैत्री परस्पर अन्योन्याश्रित हैं । सब जीवोंकी कुशलताके लिये मङ्गलकामना करनेवाला मैत्रीपूर्ण व्यक्ति अभय होता है तथा शान्त रहता है । जो दूसरोंपर बर्बर अत्याचार करता है तथा अकारण दूसरोंको डराता है, वह स्वयं भी अवश्य डरेगा । जो स्वयं शान्त है; वह दूसरोंको शान्ति दे सकता है; जो स्वयं अभय है; वह दूसरोंको अभयका पाठ सिखा सकता है ।

अभय आत्मसाधनाका प्राण-बिन्दु है । आनन्दस्वरूप परमात्माके अंश जीवमें सहज अभयका भाव विद्यमान है, जिसे हमें पहचानना और जगाना है । प्रेमपूर्ण अभयभावके उत्पन्न होनेपर चारों ओर मङ्गलमय विधानका दर्शन होने लगता है ।

अथर्ववेदमें एक मन्त्र है, जिसे हमें हृदयंगम कर लेना चाहिये । बाह्य अथवा आन्तरिक अन्धकारमें मनुष्य अपनेको अकेला समझकर घबरा जाता है तथा जोरसे गाकर मनको थामता है । किंतु साधकको सर्वदा सब दिशाएँ मङ्गलमय प्रतीत होती हैं ।

'अभयं मित्रादभयममित्राद्-
दभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः
सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥'
(१९ । १५ । ६)

'हमारे लिये मित्रसे अभय हो, अमित्रसे अभय हो, ज्ञातसे अभय हो, जो सामने हो, उससे भय न हो, रात्रिमें अभय हो, दिनमें भी अभय हो । सभी दिशाएँ हमारे लिये मङ्गलकारी हो जायँ ।'

अभय-प्राप्तिके सम्बन्धमें एक संतके ये विचार बड़े ही मननीय हैं—'भय हमें अनेक निमित्तोंसे होता है, पर यह है सर्वथा मिथ्या । जब सर्वत्र एकमात्र आत्मस्वरूप प्रभु ही सदा विराजित हैं, तब भय किस बातका । अपनेसे अपने-आपको भय होता है क्या ? बिल्कुल नहीं होता । अतः इस परम सत्यको स्वीकारकर हम भयकी वृत्तिको सदाके लिये कुचल दें । भय ही करना हो तो यह करें कि कहीं इस परम सत्यकी हमें विस्मृति न हो जाय, क्षणभरके लिये सर्वत्र पूर्ण एकमात्र प्रभुको छोड़कर हम किसी भी स्थानपर जगत्‌को न देखने लग जायँ । यह एक भय हमें प्रभुसे नित्य संयोग करानेवाला बन जायगा, हमें सदाके लिये निर्भय कर देगा ।'

संतके इन वचनोंको हम अपने जीवनमें अपनायें और सदाके लिये भयसे मुक्त हो अमरपदको प्राप्त करें ।

सेवाका अवसर

अगर तुम अपनी वर्तमान परिस्थितिमेंसे सेवाके अवसर नहीं ढूँढ सकते, तो निश्चय मानो कि सेवाके लिये जैसी परिस्थिति तुम चाहते हो, वैसी परिस्थितिमें भी तुम सेवाके अवसर नहीं पा सकोगे । जो मनुष्य खुद तो दूसरोंकी बहुत-सी सेवाओंको स्वीकार कर लेता है, मगर उसके बदलेमें स्वयं एक भी सेवाका काम नहीं करता, उस मनुष्यके समान भाग्यहीन और दुःखी मनुष्य और कोई नहीं हो सकता ।

—श्रीअरुण्डेल

तुलसीका नाम-माहात्म्य

(लेखक—श्रीराममोहनजी पाण्डेय)

गोस्वामी तुलसीदासने 'नाम-माहात्म्य'की विशेष चर्चा 'मानस'के प्रारम्भमें की है तथा अपनी अन्य रचनाओंमें भी इस सम्बन्धमें समय-समयपर बहुत कुछ कहा है। यों तो 'विनय-पत्रिका'में राम-नामको ही अपना एकमात्र अवलम्ब अनेक स्थानोंपर माना है, परंतु 'राम-नामरूपी रत्न'के 'नाम-निरूपन'का प्रयत्न 'मानस'में ही है और राम-नामकी वन्दनामें नामके माहात्म्यकी चर्चा है। इसे निराकारवादी ज्ञानियों एवं संतोंका प्रभाव मानना उपयुक्त नहीं है।

भारतीय दार्शनिक मतोंके मीमांसकों और स्मृति-ग्रन्थोंने इसपर विचार किया है। स्फोटवादके अनुसार बीजमन्त्रोंका विवेचन और मन्त्र-शक्तियोंका रहस्योद्घाटन भी इसी अवधारणाके अन्तर्गत है। 'अक्षर'का अर्थ है—जो 'क्षर' न हो। एक 'ॐ' ही अनेक बीजाक्षरोंमें विकसित हुआ है और प्रत्येक बीजाक्षर अपनी विशिष्ट शक्तिसे समन्वित माना गया है।

भक्तिके मूल स्रोतोंपर विचार करनेसे भी प्रत्यक्ष होता है कि भक्तिकी धारा निराकारवादियोंसे बहुत प्राचीन है। उसमें भगवन्नाम-स्मरणका बहुत महत्त्व है। पुराणों तथा भक्ति-दर्शनके अन्य ग्रन्थोंमें 'नाम'की महिमा प्रतिष्ठित है। संस्कृतमें 'विष्णुसहस्रनाम' तथा अन्य देवताओंके सहस्रनाम निराकारवादियोंसे निश्चय ही प्राचीन हैं। जनतामें सहस्रनामोंके पाठका विधान दीर्घकालीन परम्परासे चला आ रहा है। गोस्वामीजीने भी—

'सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपि जेईं पिय संग भवानी॥'

(मानस १। १८। ३)

'जपहु जाइ संकर सत नामा।' (मानस १। १३७। २½) का उल्लेख किया है। भारतीय भक्ति-परम्परामें सभी भक्तिग्रन्थोंने नामका गुण-गान किया है और किसी-न-किसी 'नाम'को अपनाया है। उनमें विवाद है तो विशेष नामके लिये। कोई 'शिवाय नमः', कोई 'वासुदेवाय नमः' तो कोई 'रामाय नमः' को अपनाता है। कोई 'ॐ' का ही जप कर ले, तो कोई सभी नामोंके प्रथम 'ॐ' को ही लगाते हैं।

तुलसीदासके 'नाम-माहात्म्य'को हम दो दृष्टियोंसे देख सकते हैं—एक तो नाममात्रका माहात्म्य और दूसरा 'राम-नामका माहात्म्य। यद्यपि चारों युगों और वेदोंमें नामकी अपूर्व महिमाका वर्णन है, पर कलियुगका तो एकमात्र अवलम्ब नाम ही है—

'चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥'

(मानस १। २०। ४)

तुलसीकी दृष्टिमें नामकी महिमा एक साथ ही चारों युगों, त्रैलोक्य और त्रिकालमें सत्य है, शाश्वत है, अक्षुण्ण है। इसकी अमरता संतापहारी है, त्रिविध जीवोंको 'बिसोक' बनानेवाली है—

'चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥'

(मानस १। २६। ½)

इसके साक्षी स्वयं तुलसीदास हैं—

नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥

(मानस १। २६)

तुलसीदासने कलियुगमें नामके साधनको अन्य साधनोंकी अपेक्षा अधिक प्रभावशाली और फलदायक माना है—

कृत जुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥

(मानस १७। १०२ ख)

यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार॥

(मानस ६। १२१ ख)

कलिजुग केवल हरिगुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥
सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥

(मानस ७। १०२। २–३½)

ध्यानु प्रथम जुग मखबिधि दूजें। द्वापर परितोषत प्रभु पूजें॥
कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥
कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥
रामनाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल॥

(मानस १। २६। २–४; २७)

—आदिमें इसीका प्रतिपादन है। इसके सिवा यदि और कोई साधन है तो 'येन केन बिधि दीन्हे दान करइ कल्यान।'

(मानस ७। १०३ ख)

'मानस'के 'नाम-माहात्म्य'में भी 'नाम' और 'रामनाम' दोनोंका माहात्म्य है। नारदमुनिद्वारा अरण्यकाण्डमें सभी नामोंमें 'रामनाम'की प्रतिष्ठा सर्वाधिक हो, ऐसा वर माँगा गया है। रामनामकी नामोंमें यह श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है बालकाण्डमें और वहाँ इसे नाना प्रकारसे सर्वश्रेष्ठ, यहाँतक कि सगुण और निर्गुणसे भी अधिक प्रभावशाली सिद्ध किया गया है। तुलसीने लिखनेकी परिपाटीतकसे लाभ उठाया है और 'र' तथा 'म' की ध्वनिर्योतकपर विचार किया है। 'र' वह अक्षर है, जो स्वरहीन होनेपर अन्य अक्षरों-पर पहुँच जाता है और 'म' भी उसी प्रकार समीपर अनुस्वारके रूपमें आ विराजता है। यह विशेषता उन्हें अक्षरोंमें भी सर्वोपरि सिद्ध करती है। सच पूछिये तो यह शास्त्रीय तर्क नहीं, पर जिस स्फूर्ति, उल्लास और विश्वाससे भरा है, उसे कोई सहृदय ही समझ सकता है।

परंतु गोस्वामीजीका नाम-माहात्म्य कोरे चमत्कारपर अवलम्बित नहीं है, इसके लिये उन्होंने प्रमाण भी दिये हैं। उन्होंने सगुणभक्तोंके 'नाम', 'रूप', 'लीला' और 'धाम'में 'नाम'को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है; 'नाम' तथा 'रूप'-का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध दिखलाते हुए नामकी श्रेष्ठता सिद्ध की है। अनाम, अरूप निर्गुण ब्रह्म तथा 'नाम'-'रूप'वाले सगुण ब्रह्मकी एकता सिद्ध करते हुए नामको ही दोनोंकी प्राप्तिका सुलभ साधन सिद्ध किया है।

दार्शनिक सिद्धान्त है कि जगत्की प्रत्येक वस्तुमें पाँच भाव हुआ करते हैं—सत्ता, चेतना, आनन्द, नाम और रूप। निर्गुण ब्रह्ममें प्रथम तीन ही होते हैं और मायाविशिष्ट सगुण ब्रह्ममें नाम और रूप भी, जो मायाके गुण-धर्म हैं, हुआ करते हैं। समन्वयवादी तुलसीने निर्गुण और सगुण, दोनोंका अभेद 'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।' (मानस १। ११५। १/२) कहकर किया है, परंतु 'एकु दारुगत देखिअ एकू।' (मानस १। २२। ३) कहकर एक-को अव्यक्त और दूसरेको व्यक्त होनेके कारण ग्राह्य माना है। फिर—'उभय अगम जुग सुगम नाम तें।' कहकर दोनोंकी उपलब्धिमें नामको समर्थ ठहरा दिया है। अनामी निर्गुण सगुण होनेपर सुलभ होता है। विश्व-प्रपञ्चका सहारा लिये बिना प्रपञ्चसे परे रहनेवाली सत्ताको नहीं समझाया जा सकता। इसलिये—

ग्यान कहै अग्यान बिनु तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास॥

(दोहावली २५१)

—कहकर सगुणका महत्त्व प्रतिपादित किया है। इसीलिये सगुण रूपके नाम 'राम'की महत्ता भी सब नामोंमें अधिक है।

वैष्णवदर्शनमें ब्रह्मको निर्गुण न मानकर उसे सगुण ब्रह्मके रूपमें प्रतिष्ठित किया गया है। तुलसीके राम निर्गुण-सगुण दोनों ही हैं। अतः सब नामोंमें 'राम'-नामको ही तुलसीने श्रेष्ठ ठहराया है।

'नाम' और 'रूप'के अतिरिक्त वेदान्तकी दृष्टिसे जगत्में और कुछ नहीं है। गोस्वामीजीने इन दोनोंपर विचार करके नामको ही अनाम-अरूप और सनाम-सरूप-की प्राप्तिका सुलभ साधन सिद्ध किया है। नाम और नामी समझनेपर एक ही हैं। नाम और रूप, दोनों ईश्वरकी 'उपाधियाँ' हैं। कौन बड़ा है, कौन छोटा—यह कहना अपराध है; पर अनुभवकी बात है कि—

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहिचानें॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदय सनेह बिसेषें॥

(मानस १। २०। २-३)

दोनोंकी उपयोगितामें अन्तर है। रूप नामका अनुगामी होता है। नाम लेते ही रूप सामने आता है, परंतु रूप सामने होनेपर भी नाम बिना उसे पहचानना कठिन है। अतः नाम ही रूपसे अधिक उपयोगी है।

इसी प्रकार किसी भी विवादमें साक्षी और श्रुति-प्रमाणकी आवश्यकता पड़ती है। गोस्वामीजीने बताया है कि ''वेद और पुराणोंने नामकी महिमा गायी है और केवल सगुण भक्त संतोंने ही उसे मान्य नहीं ठहराया, वरन् निराकारोपासकको भी उसके माहात्म्यको मानना पड़ा और अपने अनाम-अरूप ब्रह्मके भी नामके बिना उन्हें शान्ति नहीं मिली। 'नाम'ने कितने लोगोंको संसार-सागरसे पार किया, इसकी कोई गिनती नहीं। तुलसीने 'ब्रह्म' और 'राम'—दोनोंसे 'नाम'को हर दृष्टिसे श्रेष्ठ ठहराया है। प्रथम उसे ब्रह्मसे बड़ा और बादमें रामसे बड़ा बताया है। रामने केवल अहल्याका उद्धार किया, पर 'नाम'ने असंख्य खलोंकी कुमतिका निवारण कर उनसे बड़ी भूमिका निभायी है। रामने विश्वामित्रके यज्ञके रक्षार्थ शूर्पणखा और सुबाहु आदि निशाचरोंका संहार किया, पर

नामने समस्त भक्तोंके दोष, दुःख और विपत्तिका विनाश इतने व्यापक तौरपर किया, जैसे सूर्य रात्रिका। रामने शंकरका धनुष तोड़कर जनकके भयका निवारण किया और यहाँ तो नामके प्रतापसे ही समस्त संसारसे भयका निर्मूलन हो जाता है। रामने दंडकवनको पवित्र किया, पर नामने अनन्त जन-मानसको पावन बनाया है। भगवान्ने सेनासहित निशाचरोंका विनाश किया, पर नाम समस्त कलिके पापोंका विनाश करनेवाला है। प्रभुने प्रसन्न होकर कुछ गिने-चुने शबरी-गीध-जैसे भक्तोंको उत्तम गति प्रदान की, पर वेद इसके साक्षी हैं कि नामके आश्रयसे अनेकों दुष्टोंका उद्धार हो गया। रामने केवल सुग्रीव और विभीषणको शरणागति प्रदान की। पर लोक और वेद दोनों समवेतरूपसे नामका यशोगान करते हैं, जिसने असंख्य दीन-दुःखियोंपर कृपा की है। रामने सम्यक् परिश्रमसे बंदर-भालुओंकी सेना एकत्रित की और सेतुका निर्माण किया, पर नामके प्रभावसे बिना श्रमके ही संसार-सागर सूख जाता है। यहाँ सेतु-निर्माणकी भी आवश्यकता नहीं रह जाती। अब सज्जन स्वयं विचार कर लें कि इसमें कौन महनीय है! रामने सीताके निमित्त रावणसहित समस्त निशाचरवंशका विध्वंस किया और सकुशल अयोध्या लौटकर वे राजा रामके रूपमें प्रतिष्ठित हुए, जिसका यशोगान करते देवता और ऋषि भी नहीं अघाते। पर भक्तलोग अनन्यभावसे नामका स्मरण कर दुर्धर्ष मोहके समूहपर सहज ही विजय प्राप्तकर आत्मिक-आनन्दमें मग्न हो स्वच्छन्द विचरण किया करते हैं। उन्हें नामकी कृपासे स्वप्नमें भी किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रहती।''

इस सूक्ष्म विवेचनसे नामकी महिमा स्वतः सिद्ध हो जाती है। देवाधिदेव भगवान् शंकरने 'सतकोटि' रामचरितसे छाँटकर इसे हृदयमें धारण किया है और यह भी उस नामका ही प्रभाव है कि स्वयं अमङ्गलवेषधारी शंकर मङ्गलके प्रतीक हो गये। शुकदेव और सनकादिक ऋषिगण भी नामके प्रभावसे ही ब्रह्म-सुखकी अनुभूतिमें लीन रहते हैं। नारद, प्रह्लाद, ध्रुव एवं हनुमान्-जैसे भक्तोंने नामके आश्रयसे ही नामी भगवान्को अपना वशवर्ती बना रखा है। नामके प्रभावसे ही अजामिल, गज और गणिका-जैसे पातकी मुक्त हो सके। कहाँतक नामके विरदका विवेचन किया जाय, स्वयं भगवान् राम भी नामके गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ हैं, फिर साधारण जीवकी सीमित शक्ति और साधना कहाँतक समर्थ हो सकती है। लोक और वेद, दोनों साक्षी और प्रमाण हैं कि इस प्रकार निर्गुण और सगुणके झगड़ेको भी दूर कर दोनोंमें समन्वय स्थापित करनेवाला नाम ही है। वही 'उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी' है और—

(दोहावली ८)

सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुन मन ते दूरि।
तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन मूरि॥

दोनोंतक पहुँच न होनेपर राम-नामका अवलम्ब सर्वश्रेष्ठ है। सची बात तो यह है कि 'राम नाम मनिदीप' भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश विकीर्ण करता है, जिससे भीतरके 'अन्तर्यामी' और बाहरके 'बहिर्यामी' दोनों रामके दर्शन इस प्रकाशमें सुलभ हो सकते हैं। इसलिये इस रत्नकी शोभा विलक्षण है—

हियँ निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥

(दोहावली ७)

इसीलिये नामको 'बिधि हरिहरमय' और 'बेद-प्रान सो' भी कहा गया है।

चारों प्रकारके भक्तोंका अवलम्बन 'नाम' ही है—

राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥
चहूँ चतुर कहुँ नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा॥

(मानस १। २१। ३-३½)

इतना ही नहीं, यह योगियोंका भी परम आधार है। इसीसे वे 'अकथनीय, अनामय, नाम-रूपरहित 'ब्रह्मसुख' की अनुभूति करते हैं—

ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥

(मानस १। २१। १)

उसी प्रकार ज्ञानी भी नाम-जप करके 'ब्रह्मकी गूढ़ गति' को जानते हैं। नाम सकल सिद्धिदायक और दुःखियोंके भारी संकट टालनेमें भी समर्थ है—

जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥

(मानस १। २१। २½)

नामके प्रतापसे बहुतोंके कार्य सिद्ध हो जाते हैं। प्रमाण हैं—गणेश, वाल्मीकि और नारद, साथ ही शंकर भगवान्, जिन्हें कालकूटने अमृतका फल दिया। इस प्रकार नाम ज्ञानियों, योगियों, भक्तों एवं आर्त्त, अर्थार्थियों—सभीका परम अवलम्ब है। अतः तुलसीने भी राम-नामका

ही सहारा लिया है और उसीकी प्रीति-प्रतीतिको अपने जीवनका एवं लोक-परलोकका मङ्गल-विधायक माना है—

प्रीति राम नाम सों प्रतीति राम नाम की,
प्रसाद राम नाम कें पसारि पाय सूतिहौं।
(कवितावली ७ । ६९)

तथा—

राम नाम रति नाम गति राम नाम बिस्वास ।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल दुहुँ दिसि तुलसीदास ॥
(दोहावली ३९)

योगी, जङ्गम, संन्यासी, राजा, विद्वान्, लोभी, भोगी, वियोगी एवं रोगी—सभी समानरूपसे अपनी वर्तमान एवं निकटस्थ परेशानियोंसे संत्रस्त दिन-रात उद्विग्न रहते हैं, पर तुलसीको इस बातका गर्व है कि वह केवल राम-नामके भरोसे उन सारी दुश्चिन्ताओंसे मुक्त रहकर सुखसे सोता है ।

राम-नामके ये दो अक्षर ही तुलसीके माँ-बाप हैं और इन्हींके बलका उन्हें भरोसा भी है—

'मेरो तो माय-बाप दोउ आखर ।' (विनय० २२ । ६)

तथा—

'प्रीति प्रतीति है आखर दू की' (कवितावली ७ । ८९)

'राखिहैं रामु सो जासु हिएँ तुलसी हुलसै बलु आखर दू को ॥'
(कवितावली ७ । ९०)

कवितावली और विनयपत्रिकामें शपथपूर्वक राम-नामके प्रति अपनी अनन्यता एवं एकनिष्ठता व्यक्त करते हुए तुलसीका दैन्य उसके यशके सौरभ, प्रतापके वेग, महिमाके गाम्भीर्य और कृपालुताकी करुणाके आधिक्यसे प्रवाहित हो उठता है । यहाँ राम-नामके प्रति जो अखण्ड विश्वास व्यक्त किया गया है, वह जीवनके अनुभूत एवं मर्मभेदी सम्बन्धोंके स्पर्शके पश्चात् सत्यकी परमोपलब्धिसे संवलित है । अब किसी प्रकारकी जिज्ञासा शेष नहीं रह गयी है—

राम की सपथ, सरबस मेरें राम नाम,
कामधेनु-कामतरु मोसे छीन-छाम को ।
(कवितावली ७ । १७८)

तथा—

संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम-नामहि तें तुलसिहि समुझि परो।
(विनयपत्रिका २२६)

यही जीवनका परम धन है, उपलब्धि है और है 'विश्राम' की अपूर्व स्थितिका प्रदायक भी, जिसका संकेत तुलसीने बार-बार किया है । 'मानस'के समापनका उद्घोष भी यही विश्राम ही है—

'पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ ।'
(मानस ७ । १२९ । ३ छं०)

'विनयपत्रिका'में इसीलिये तुलसीने बार-बार अपनी जिह्वासे राम-नाम रटनेका आग्रह किया है और मनको हठपूर्वक पपीहाकी भाँति एकनिष्ठ होनेकी सलाह दी है—

राम राम रमु, राम राम रटु, राम राम जपु जीहा,
राम नाम नव-नेह-मेह को मन ! हठि होहि पपीहा ।
(विनयपत्रिका ६५)

और अन्योंसे भी यही आग्रह है कि—

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे ।
(विनयपत्रिका १८९)

'राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे'
(विनयपत्रिका ६६)

'राम राम जपु जिय सदा सानुराग रे ।'
(विनयपत्रिका ६७)

सुमिरि सनेह सों तू नाम राम राय को ।
संबल निसंबल को, सखा असहाय को ॥
(विनय० ६९)

उन्हें राम-नामका ही भरोसा है; क्योंकि वह उनके जीवनमें प्रत्यक्ष फलदायक सिद्ध हुआ है । कहते हैं—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।
मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो ॥
(विनयपत्रिका २२६)

नाम ही कल्पवृक्ष है, जो शरण-ग्रहण करनेवालेको मनचाहा वर प्रदान करता है । इसी नाम-कल्पतरुसे चाहो तो निर्गुण मुक्ति ले लो, चाहो तो सगुण मुक्ति ले लो और चाहो तो इसी जगत्के कण-कणमें राम-रूपका साक्षात्कार करके स्वयंको और अपने साथ अन्योंके जीवनको भी कल्याणकारी बनाते चलो ।

श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना

'कल्याण' के श्रीभगवन्नाम-प्रेमियोंद्वारा कार्तिक पूर्णिमा संवत् २०२९ वि० से लेकर चैत्र पूर्णिमा संवत् २०३० वि० तक हमारी बीस करोड़ मन्त्र-जपकी प्रार्थनाके स्थानपर पैंतालीस करोड़से कुछ अधिक ही मन्त्र-जप होनेकी सूचना 'कल्याण'के गत मासके अङ्कमें प्रकाशित हो चुकी है। इस वर्ष भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंने भगवन्नाम-जपके प्रति विशेष प्रीतिका परिचय दिया है। इसके लिये हम उनके हृदयसे आभारी हैं। उन्होंने भगवन्नाम-जप करके अपनेको तथा हमें परम भाग्यशाली बनाया है। गतवर्षके जपके सम्बन्धमें कुछ उल्लेखनीय बातें ये हैं—

(क) भारतका शायद ही कोई प्रदेश बचा हो, जहाँ जप न हुआ हो। विदेशोंमें भी जप हुआ है।

(ख) बालक-युवा-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर, अपढ़ एवं विद्वान्—सभी तरहके लोगोंने जपमें भाग लिया है।

(ग) षोडश-मन्त्रके अतिरिक्त अन्य मन्त्रोंका भी लोगोंने जप किया है।

(घ) बहुत-से लोगोंने जप करनेकी सूचना दी है, संख्या नहीं लिखी।

(च) कई व्यक्तियोंने अब इस क्रमको जीवनभर निभानेका निश्चय किया है।

(छ) अधिकांश जप व्यक्तिगत रूपमें हुआ है, कुछ सामूहिक रूपमें भी।

इसी प्रकार गतवर्ष १०७१ स्थानोंपर नाम-जप होनेकी सूचना हमारे यहाँ नोट हुई है। स्थानोंके नाम अङ्कित करनेमें पूरी सावधानी बरती गयी है, फिर भी रोमन लिपिमें नाम लिखे रहनेसे उन्हें देवनागरी लिपिमें लिखनेपर उच्चारणमें भेद हो सकता है। बहुत-से ऐसे पत्र भी थे, जिनमें नाम ठीकसे पढ़नेमें नहीं आये। पूरी चेष्टा रखी गयी है कि नाम ठीकसे पढ़े जायँ, पर इसमें भूल सम्भव है। इस बार यह सावधानी विशेषरूपसे बरती गयी है कि एक भी पत्र बिना चढ़े नहीं रहने पाये और हमारी जानकारीमें ऐसा ही हुआ है। फिर भी हो सकता है, कुछ नाम बिना चढ़े रह गये हों। जिन स्थानोंके सम्बन्धमें ऐसी भूलें हुई हों, वहाँके जपकर्ता महानुभावोंसे हम क्षमा-याचना करते हैं। वे कृपया हमारी विवशताको ध्यानमें रखते हुए अपने उदारता-वश इसके लिये विचार नहीं करेंगे। स्थानोंकी सूची नीचे दी जा रही है।

इस वर्ष पुनः श्रीभगवन्नाम-जपकी प्रार्थना गत अङ्कमें प्रकाशित हो चुकी है। श्रीभगवन्नाम-प्रेमी पाठक-पाठिकाओं-से अनुरोध है कि वे सदाकी भाँति इस वर्ष भी बड़े ही उल्लास एवं उत्साहके साथ नाम-जप करें एवं करवायें।

स्थानोंकी सूची

अंकोला, अंचरवाड़ी, अंधियारखोर, अइधा, अकबर-पुर, अकोधा, अकोला, अकोहा, अघरखा, अजबपुरा, अजमेर, अजगरा, अटेर, अठेहा, अड्डाबाजार, अणुबासा, अदलागुड़ी, अनंगपुर, अनूपगढ़, अन्तपैंठ, असनोर, अमरावती, अमरीखेड़ा, अमरा, अम्पोलू, अम्बाला, अम्बाह, अम्बिकापुर, अमृतसर, अरगोरा, अरजरिया, अरड़का, अरदौनी, अरसारा, अरारिया, अलवर, अलीगंज, अलीराजपुर, अल्मोड़ा, अल्हेड़नागीर, अशोक-नगर, असनावर, असरीखेड़ा, असवार, अस्तरंग, अहमदाबाद, अहरौला, अहारन, आगर, आगरा, आगासौद, आगेवा, आजमगढ़, आठगढ़, आठनेर, आदिपुर, आद्रा, आभानेरी, आमगाँव, आरंग, आरा, आलवाड़ा, आलाबीरा, आलमपुर, आवगिलासायर, आवाँ, आष्टा, आसनसोल, इचाक, इच्छे, इटकी, इटकी अंतरगाँव, इटावा, इन्दौर, इलाहाबाद, ईश्वरपुरमाई, उखुण्डा, उचेहरा, उछटी, उजानगंगोली, उज्जैन, उतरौला, उडीपी, उदयपुर, उबौरा, उमरानाला, उमरी, उमेदपुरा, उमेदाबाद, उरई, उसरी, उसेतक पुरा, ऊँझा, ऊगारपुर, ऊना, ऋषिकेश, एकडंगा, एकडेंगवा, एटा, एरेनपुरा, ऐघा, ओरियाका पुरवा, ओरंगाबाद, कंसी सिमरी, कचनन, कच्छ, कटईआ, कटक, कटगी, कटबोरा, कटनी, कटरा, कटराँई, कटरा मेदिनीगंज, कटार, कटिहार, कडैल, कण्डाघाट, कदौरा, कनखल, कन्नौद, कन्हौली गजपति, कपकोट, कपड़ाघाट,

कपरौल सिरोमन, कपसा, कफलोड़ी, कवरई, कवेला, करगी रोड, करजोईन बाजार, करनाल, कर्नलगंज, करुरा, करवाड़, करही, करीमनगर, करीमपुर, करोंदिया, करौता, करौली, कलकत्ता, कल्याणपुरा, कलसार, कलुँगा, कल्लूपुरा, कलैयाबाजार, कवठल, कवरई, कसरौर, काँकरोली, काँठ, काँघला, कागूपाड्डू, कागड़ा, काकीनाड़ा, काटे मानोली, काठमाण्डू, कादगंज, कानपुर, कानलदे, कामठी, कालसी, कालाँवाली मण्डी, कालीम्पोंग, काशीपुर, किछा, किराना, किशनगढ़, कुंडणे, कुंडिया, कुकुड़ा, कुकुरघाटी, कुचामनरोड, कुटासा, कुठौन्द, कुडुम्बा, कुनकुरी, कुनौलीबाजार, कुमारसैन, कुम्हेर, कुरवाई कैथोरा, कुरैठा, कुसमुरा, कूँतणी, कूचबिहार, कृपालपुर, कृष्णनगर, केल्हारी, केसकाल, कैथा, कोईली, कोरवा, कोचिन, कोटद्वार, कोटड़ी, कोटड़वाड़ा, कोटदा, कोटफत्तूही, कोटरी, कोटा, कोटाकोण्डा, कोडांगल, कोण्डापुरम्, कोतर, कोद्दहरा, कोयम्बतूर, कोरकीकलाँ, कोरवाँ, कोरिहर, कोलवा, कोलासी, कौआहाँ, कौड़ियागंज, खगौना, खड्डी, खड़ीत, खण्डवा, खण्डेलवालनगर, खतौरा, खरकड़ीकलाँ, खरखौदा, खरगोन, खर्दा, खरोसा, खरसिया, खरियाखगार, खामगाँव, खिड़किया, खिरजावाँस, खिरौली, खिसनी बुजुर्ग, खींवसर, खुरई, खेजड़ी, खेड़ली, खेड़े, खेराजपुर, खैर, खैराचातर, खोखा, खोरी, खौड़, गंजाम, गंगाजाला, गंगापुर, गंगामाइयान, गंगोलीहाट, गड़ैरा बाजार, गढ़र, गढ़ी, गन्धेली, गनीपुर, गया, गरपुरा, गरीफा, गाजियाबाद, गातापार, गिरिजास्थान, गिरिडीह, गीतादेवघा, गुना, गुजरा, गुड्डारियाजोगा, गुम्ही, गुरसराय, गेवरा, गैसाबाद, गोइदा, गोईलकेरा, गोकुलपेठ, गोखुलपुर, गोंचीतरोंदा, गोण्डल, गोण्डा, गोपालपुर, गोपीगंज, गोरखपुर, गोरुडुवा, गोलकोट, गोला गोकरणनाथ, गोलाघाट, गोलूवाला, गौछेड़ा, गौरखेड़ा, गौरा, गौसपुर, गौहाटी, ग्वालियर, घरटिया, घाघरा, घाटाटाँड़, घायगाँव, घेवड़ा, घोड़ाडोंगरी, घोरीकित्ता, चकराता, चण्डीगढ़, चपकी, चमोली मेठाणा, चाहेड़ा, चिंचोली, चोचली, छछून्द, छतरपुर, छतैनी, छपरा, छातातॉड़, छापर, छापड़ा, छिबरामऊ, छीपाबाड़ोद, जखेड़ा, जगदलपुर, जगदीशपुर, जगन्नाथपुर, जटमलपुर, जटेश्वर, जबलपुर, जमलापुरध्यान, जमशेदपुर, जमसारी, जमालपुर, जमालीपुर, जमुआँव, जम्मूतवी, जयपुर, जयरामपुर, जरारा, जरियाई, जलगाँव, जलालपुर, जलेश्वर, जव्हार, जसीडीह, जहाँगिराबाद, जांगलु, जालोली, जामठी, जामवणथली, जार, जालन्धर, जिल्हौरा, जीन्द, जीराबाद, जुजुरु, जेठवारा, जेरा, जैतोमण्डी, जैथारी, जोधपुर, जोरावरडीह, जोल्हूपुर, जौनपुर, झंझारपुर, झरिया, झाँसड़ी, झाँसी, झाझा, झाला, झालावाड़, झुमियावाली, टाँगर सिकवार, टाना, टिटिलागढ़, टिमरनी, टिहरी गढ़वाल, टीकर, ठाकुर बदरा, ठिकहाँ भवानीपुर, ठुसेकला, डाकरा बाजार, डफलागढ़, डाबला, डाल्टनगंज, डालमियानगर, डिकसल, डिबाई, डिब्रूगढ़, डीडवाना, डीहा, डुमरी, डुमरियाखुर्द, डूँगरपुर, डेंडासई, डोटोपार, डोढवी, डोम्हाटोला, डोराना, डोरावली, ढांगल, ढाकाखाना, ढाढाकलाँ, ढिलवणी, तरीफल, तरेंगा, तवेरा, ताराजीवर, तारानगर, तालग्राम, तावड़, तिकोनिया, तिरुनेलवली, तिरोड़ा, तिलकपुर, तिलहर, तिवारीटोला, तिरसा, त्रिचनापल्ली, तूमड़ा, तूमैन, तेजपुर, तेजम, तौरा, त्यौघरी, थाणा, थ्योग, ददाहु, दमोह, दरियाबाद, दरेकसा, दशहरी, दसवतपुर, दाउदपुर, दाड़ी, दानपुर, दानापुर, दामोदरपुर, द्वारकातिरूमल, द्वारहाट, दिग्विजय-ग्राम, दुर्गकोण्डल, दुम्भा, दुलदापुर, देवगढ़, देवठी, देवत, देवघा, देवभिलाई, देवरिया, देवल, देवारी, देवास, देहरादून, दोरवा, धरऊपुर, धनकुड़िया, धनगाँवाँ, धनबाद, धनोरा, धमतरी, धमनापायक, धरमपुर, धर्मपुरी, धर्मशाला, धापेवाड़ा, धार, धारवाड़, धीराई माजुली, धूरी, धोरीकित्ता, धोलका, धौलपुर, नकोदर, नगरोटा बगुआ, नगलाकंचन, नचनेव, नडियाद, नवाबगंज, नयानगर, नयीदिल्ली, नरगोड़ा, नरदन, नरमण्ड, नरवर, नर्वल, नरहाँ, नरियाँव, नरौटमेहरा, नवलगढ़, नवागढ़, नवादा, नवादाबेन, नाँदगाँवपेठ, नाकाचारी, नागपुर, नान्देड़, नाभा, नारदीगंज, नारी, नारायणपुर, नारायणपेठ, नासिक, निगोही, निजामाबाद, निपनिया, निमदीपुर, निम्बज, निरसाचट्टी, निवड़िया, नीनोर, नीमच, नीमी, नीलोखोरी, नूरपुर, नेवादा, नैड़ी, नैनीताल, नैमिषारण्य, नोआवाँ, नोहर, नौगढ़, नौतनवाँ, नौनेरा, नौबस्ता, नौरंगपुर, नौरेजपुर, नौरोजाबाद, नौलागढ़, नौली, पंचासिया, पकरहट, पकरीगुरिया, पचगछिया, पचगाँवाँ, पचाढ़ा, पचैण्डाकलाँ, पचोखरा, पछाड़, पछौड़ाँ, पटना, पटनागढ़, पटालीपुरा, पटियाला, पटोरी, पतराटोली, पतलीकुइल, पताही, पत्थलगढ़ा, पद्मपुर,

पनाना, पनारी, पन्ना, पपरोला, परतेवा, परभनी, परली वैजनाथ, परसपुर परसीपुर, परसीपुर पतौना, परसौनी कपूर, पहरा, पहासू, पाँचोटा, पाटोदा, पाण्डेगाँव, पायल, पारबतीनगर, पारलाखेमण्डी, पारा, पाल, पालगंज, पालनपुर, पाली, पावटी, पिंडरावल, पिचायक, पिठवल, पिपरादादन, पिपरिया, पिपरौली, पिपलानी, पियरौटा, पिरोजपुर, पिलानी, पिहानी, पीनना, पीपरवानी, पीपरावगाही, पीपरी गहरवार, पीपलगाँवदेवी, पीपलरावा, पीपळू, पीपल्याजोधा, पुनासा, पुनासी, पुरामुफ्ती मनौरी, पुलियुर, पुवायाँ, पुष्करराज, पुहरिया, पूना, पूर्णियाँ, पेटलाद, पेण्डरापद्दपेल्ली, पेसम, पैंची, पैतिहा, पौड़ी पोखरैरा, पोचानेर, पोरबन्दर, पोसरा, प्रतापगढ़, प्रह्लादनगर, प्रेमपुरा, फगवाड़ा, फतेहगढ़, फरीदाबाद, फर्रूखाबाद, फलोला, फागी, फिरोजपुर, फिलाडेल्फिया (अमेरिका), फिल्लौर, फुलेस, फेरूसा, फैजपुर, फैजाबाद, बंगलोर, बगड़, बगासपुर, बगही, बघराई, बछौर, बटवाड़ी, बटेसरा, बड़गाँव, बड़वाकलाँ, बड़वानी, बड़ौदा, बढ़या, बढ़याचौक, बढ़ापुर, बढ़ावदापर, बदनापुर, बदायूँ, बदोसा, बनचारी, बन्दीदासपुर, बनबहुआर, बन सारा, बबाइन, बभनी, बभलाज, बमकोई, बमण्डी, बम्बई, बरगढ़, बरदाला, बरम, बरलंगा, बरहदपुर, बराटाकलाँ, बराना, बरारीपुरा, बराँव, बरूँथन, बरेड़ी, बरेली, बलगड़ी, बलभद्रेश्वर, बलरामपुर, बलिया, बसवार, बसीपठाना, बसेठ, बस्ती, बहादुरगंज, बहुआ, ब्रह्मावली, बाँगरदा, बाँदनवाड़ा, बाँदा, बासगाँव, बाँसवाड़ा, बागबाहरा, बाजपट्टी, बाबागंज, बाबापुर, बामोरकलाँ, बारन, बारो, बार्शी, बालाडियामल, बालाघाट, बालापुर, बावल, बासन, बिछवाँ, बिजनौर, बिजावर, बिजोलियाँ, बिठोली, बिघिया, बिराल, बिलासपुर, बिसरा, बिस्वाँब्रिज, बिहारशरीफ, बिहिया, बीकानेर, बीखा, बीदासर, बीनादेवरी, बुढ़ेना, बुधारा, बुरला, बुरहानपुर, बुलढाणा, बुलन्दशहर, बेंदा, बेतिया, बेमेतरा, बेरमा, बेलगाँव, बेलटुकरी, बेलमण्डई, बेलापुर, बेलारी, बैतुल, बोकठा, बोरखेड़ी पानेरी, बोहना, ब्यावर, भकुवा, भगूर, भच्छी, भटगामा, भटगाँव, भट्टपुरा, भटिण्डा, भण्डारा, भतहर,

भदपुरा, भदोखरा, भद्रक, भद्रपुर, भरतपुर, भरथना, भरथोला, भरूँच, भलुआ, भवदेवपुर, भवानीपालि, भवानीपुर, भाईरूपा, भागा, भाटखेड़ी, भाटीपारा, भाटीवरा, भादसों, भावनगर, भिण्ड, भिनगा, भिनपुरी, भीमतला, भीमदासपुर, भीराखीरी, भीलवाड़ा, भुसौला अढ़ाई, भुसावल, भूपतपुर, भेड़वन, भैंसपुरा, भैंसा, भोकरदन, भोजपुर, भोजूडीह, भोट, भोपाल, भौसी, मऊ, मऊगंज, मकराना, मच्छरगाँवाँ बाजार, मजरुद्दीनपुर, मड़रो, मण्डईडीह, मण्डाला, मण्डीदीप, मथुरा, मद्रास, मदले, मदुपुर, मधवापुर, मनकडीहा, मनकापुर, मननपुर मोरसंड, मनफरा, मनीमाजरा, मनावदर, मनसींधा, मन्दसौर, मनाना, मनेन्द्रगढ़, मरुई, मल्गाँव, मलणगाँव, महनार, महराजगंज, महासमुंद, महुअरा, महुआ, महुरहाँ, महू, महेशपुर, महोली, माणिकपुर, मादड़ी, माधवपुर, माधोपुरखोरी, मानपुर, मानपुरनगरिया, मायना, मालपुर, मालेगाँव, मालौनी, मुंगिला, मुंगेर, मुंगेली, मुजफ्फरनगर, मुजफ्फरपुर, मुड़केला, मुड़ेरा, मुधोल, मुनिगड्डपा, मुबारकपुर, मुरादपुर, मुरादाबाद, मुस्तफाबाद, मुहम्मदपुर, मुहम्मदाबाद गोहना, मिर्जाजान, मिर्जापुर, मीरगंज, मीरासवैया, मेंहदावल, मेघपुर, मेघौल, मेड़क, मेड़िया, मेढ़ा छिंदवाड़, मेरठ, मैनपुरी, मोतिहारी, मोदीनगर, मोरसण्ड, मोरीजा, मोहनपुर, मौरा रामनगर, म्याऊँ, येवले, रंगाचकुआ, रक्सोल, रजऊ, रजियाणा, रतनखेड़ी, रतनगढ़, रतलाम, रनवल, रमपुरवा, रसूलाबाद, रसौढ़ा, रहनस, रहावली उबारी, रहीमाबाद, रांगामाटी, राँची, राउरकेला, राथोड़ा, राजकोट, राजगढ़, राजग्राम, राजनगरकालरी, राजविराज, राजाका ताजपुर, राजीर, राजोधा, रानीखेत, रामनगर, रामपुर, रामपुरा, रामपुरापुल, रामेश्वरम्, रायचूर, रायपुर, राया, रावतगीव, राहे, रिझौरा, रीवाँ, रुदासी, रेडीमुरास, रेणुकूट, रेवदर, रैगणियाँ, रैनी सतवरिया, रैयाना, रोपड़, रोहतक, रोहिनी, लक्सेटीपेट, लक्ष्मीपुर, लखनऊ, लखीमपुर, लत्ता, ललितपुर, लश्कर, लसकरीपुर, लहुआकलाँ, लाखनमाजरा, लाखागुड़ा, लाटबसेपुर, लाठगाँव, लाडकुई, लातेहार, लालमद,

लालपुर, लीलापट्टी वनकटिया, लुकट, लुटरी, लुधियाना, लुहर्रा, लोहीना, लौकहा, लौरिया, वगहा, वड़जी, वड़वारा, वड़ाला, वणी, वदौसा, वमनगामा, वर्धा, वरियापुर, वसन्त, वहवोलिया, वाजपट्टी, वायपोखरा, वाराणसी, वारी तलाई, वालसाद, वाहेगाँव, विकाराबाद, विजापुर, विजावट, विदिशा, विलखी, विश्रामपुर, विष्णुपुर, विसावाँ, वीनागंज, वृन्दावन, वेदा, वैजापुर, वैर, वैसाडीह, शंकरगढ़, शंकरपुर इमामगंज, शंकरनगररमणा, शकरा, शकूरवस्ती, शकूराबाद, शयसणुर, शरफुद्दीनपुर, शहपुरा, शहरना, शहवाजपुर, शाजापुर, शाहजहाँपुर, शिम्भौली, शिमला, शिरपुर, शिवगंज, शिवपुरी, शीरपुर, शेखपुर, शेमशेर, शेरगढ़, श्रीगंगानगर, श्रीडूँगरगढ़, श्रीकोट, श्रीनगर, श्रीमाधोपुर, श्रीरामपुर, संगारेडड्डी, संग्रामपुर, सठियाँव, सतना, सतवरिया, सनावड़ा, सचौर, समनापुर, समसेर, समाना, सम्बलपुर, सम्भल, सरकण्डा, सरवई, सरहैड़ा, सराहाँ, सरैयामाफी, सलेमपुर, सवाईमाधोपुर, सहजपुर, सहजनपुर, सहरसा, सहारनपुर, सागवाड़ा, सातोंजोगा, सादापुर, सारेखण्डकलाँ, सावा, साहेवान, सिंगोला, सिंघोल, सिकन्दरपुर, सिकरी बुजुर्ग, सिकरौं, सिखनिया, सिमडेगा, सिमथरी, सिमरौल, सिरसी, सिरौंज, सिलहट, सिलारी, सिवनी, सिवहरा, सिसवनिया, सिहोरा, सींथल, सीकर, सीगौना, सीतापुर, सीतामऊ, सीलगाँव, सीवान, सुठालिया, सुन्दरनगर, सुनेल, सुपौल, सुवलिया, सरवाही, सुरेमनपुर, सुल्तानगंज, सुलह, सुहवल, सूरखेड़ा, सूरजपुर, सूरत, सूलिया, सेऊ, सेंधवा, सेमरमथानी, सेमरी हरचंद, सेमलियाहीरा, सेरौं, सेवास, सोंसरी, सोनपुरराज, सोनारी, सोनीपत, सोनौरा, सोमना, सोरमपुर, सोही शिलागढ़, सौरखुर्द, हजारीबाग, हनुमानगढ़ी, हरदा, हरना टांड़, हरद्वार, हरदोई, हरिनगर, हरिहाकलाँ, हलद्वानी, हवीवपुर, हाँफा, हाथरस, हावी मौटाड़, हिण्डोरिया, हिरनां, हिवराकोरडे, हिसार, हीगवा, हीरापुर, हुटार, हैदरनगर, हैदराबाद, हैया रघुनाथपुर, होलीपुरा, होशंगाबाद, होस्पेट।

'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'-कार्यालय,
पो० गीतावाटिका (गोरखपुर)

श्रीकृष्ण-मुखचन्द्रकी चकोरी मीराँ !

मन में बसी थी मनमोहन की मञ्जु-मूर्ति
उर में थी वेदना, वियोग में अधीरा थी ।
त्याग दिये भोग राधावर के सँयोग-हेतु,
साधा प्रेमयोग, सहीं वाधा, ध्रुव-धीरा थी ॥
लोक की न भीति, प्रीति साँची नन्दनन्दन से,
जाँच ली गयी थी खूब, काँच नहीं, हीरा थी ।
प्रेम-पीयूष पान करती अविराम रही,
कृष्ण-मुखचन्द्रकी चकोरी मञ्जु मीराँ थी ॥

* * *

बाँधा भगवान को था भव्य भाव-बन्धनों में,
जीवन लुटा के कृष्ण-प्रेम-रँग-राती थी ।
चातकी बनी थी, घनश्याम को पुकारती थी
नयनाम्बुजों से नीर-धार बरसाती थी ॥
पाया अमरत्व पान करके हलाहल को,
गिरिधर गोपाल के गुणानुवाद गाती थी ।
नाचती थी मीराँ प्रभु-प्रेम में विभोर होके,
पूर्ण ब्रह्म को भी निज साथ में नचाती थी ॥

—गोपीनाथ उपाध्याय

जिज्ञासुओंके प्रति निवेदन

(१)

भगवान्‌के दर्शनके लिये मनमें व्याकुलता उत्पन्न कीजिये

प्रिय बहन !

सप्रेम भगवत्स्मरण। आपका पत्र प्राप्त हुआ। आपने अपना पता नहीं लिखा और अपने पत्रका उत्तर आप 'कल्याण'के द्वारा चाहती हैं, अतः 'कल्याण'के माध्यमसे ही अपनी अल्पमतिके अनुसार आपका यत्किंचित् समाधान करनेकी चेष्टा की जा रही है। यदि इसको पढ़नेसे आपका कुछ भी समाधान हुआ तो मैं अपना प्रयास सफल मानूँगा।

आपको जीवनसे कभी निराश नहीं होना चाहिये। हमारी ऐसी कोई समस्या नहीं है, जो भगवान्‌की कृपासे हल न हो सके। भगवान् सर्वसमर्थ हैं और सर्वत्र हैं। वे अत्यन्त दयालु और जीवमात्रके परम सुहृद् हैं। वे सर्वज्ञ हैं; हमारी क्या कठिनाई है, इसे भी वे जानते हैं। उन्हें विश्वासपूर्वक आर्तभावसे मन-ही-मन पुकारनेभरकी देर है। फिर या तो हमारी वह कठिनाई दूर हो जायगी अथवा उसे सहन करनेकी शक्ति हमारे अंदर आ जायगी—यदि भगवान् हमारे मङ्गलके लिये उस कठिनाईको दूर करना नहीं चाहेंगे।

फिर आपकी व्यथा तो बड़ी सात्त्विक और वरणीय है। आपको तो सबसे बड़ा दुःख इसी बातका है कि जीवन बीता जा रहा है और आपको भगवान् मिल नहीं रहे हैं। इस दुःखको और भी बढ़ने दीजिये। भगवान् आपको इसीलिये नहीं मिल रहे हैं कि उनका वियोग आपको सह्य हो रहा है। जिस दिन, जिस क्षण आपको उनका दर्शन असह्य हो जायगा, वे उसी दिन, उसी क्षण आपके सामने प्रकट हो जायँगे और फिर आपसे कभी वियुक्त नहीं होंगे। उनकी यह आँखमिचौनी जीवमात्रके साथ सदा चलती रहती है। वे तो स्वयं चाहते हैं कि मेरा अंश, जो न जाने कबसे—कितने कालसे मुझसे मुँह मोड़े हुए है—मुझसे बिछुड़ा हुआ है, मुझे अपना मान ले और बेखटके मेरे पास चला आये। वे तो जीवमात्रको गले लगानेके लिये सदा तैयार हैं; कोई उनके लिये व्याकुल तो हो। आपको यह तो भूलकर भी नहीं मानना चाहिये कि भगवान् अबतक आपको नहीं मिले, अतः आगे भी नहीं मिलेंगे। जो उन्हें हृदयसे चाहता है—एकमात्र उन्हींको चाहता है—वे उसे अवश्य मिलते हैं। हमारी चाह सच्ची और अनन्य होनी चाहिये। हाँ, भगवान्‌के स्वभावकी यह एक बड़ी विचित्रता है कि उन्हें दूसरा नहीं सुहाता। वे चाहते हैं कि जीव मेरे सिवा किसीको कुछ भी न चाहे।

हमारा मन अशान्त इसीलिये रहता है कि हमारे मनकी नहीं होती। अथवा हमारे मनके प्रतिकूल कोई ऐसी परिस्थिति निर्मित हो गयी है, जिसे हम हटाना चाहते हैं, परंतु वह हटती नहीं। प्रभु जो कुछ करते हैं, हमारे मङ्गलके लिये ही करते हैं और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति सब हमारे प्रियतम प्रभुकी भेजी हुई ही आती है; उनकी मर्जीके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। वस्तुतः तो भगवान् भी कुछ नहीं करते; हमारे पहलेके किये हुए अच्छे-बुरे कर्म ही अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितिके रूपमें सामने आते हैं और हमारे लिये सुख-दुःखका कारण बनते हैं। भगवान् तो हमारे अपने प्राक्तन शुभ-अशुभ कर्मोंका फल भुगतानेमें निमित्तमात्र बनते हैं और वह भी इसलिये कि हमारे कर्मोंका फल भुगताकर वे हमें ऋणमुक्त कर दें, शुद्ध कर दें, हमारे हृदयको अपने विराजनेके योग्य बना दें।

किसी व्यक्ति-विशेषके कारण आपके घरका वातावरण विषाक्त हो गया है, यह माना जा सकता है; परंतु उसके कारण आपके मनमें जो अशान्ति रहती है, आपका मन उद्विग्न रहता है—इसमें कारण आप स्वयं ही हैं। कारणके बिना कार्य नहीं होता—कारण पहले होता है, कार्य पीछे। आपके कारण किसीके मनमें कभी अशान्ति हुई है, उद्वेग हुआ है, इसीके परिणामस्वरूप आपके मनमें आज अशान्ति है, उद्वेग है। आपकी अशान्तिमें, आपके उद्वेगमें वह व्यक्ति निमित्त बना हुआ है—यह उसके द्वारा एक नया कर्म बन रहा है, जिसका फल उसे आगे भोगना पड़ेगा। परंतु आपकी अशान्ति एवं उद्वेगमें तो आप स्वयं ही कारण हैं। अतः आप यदि शान्ति चाहती हैं तो उस व्यक्तिके निमित्तसे होनेवाली प्रतिकूलताको अपना ही कर्मफल समझकर

चुपचाप प्रसन्नतापूर्वक सहन करती जायँ और मन-ही-मन उसका उपकार मानें कि वह आपको अपना कर्मफल भुगताकर शुद्ध बनानेमें निमित्त बन रहा है। प्रतिकूल परिस्थितिको प्रभुका विधान मानकर सहन करनेसे ही आपको शान्ति मिल सकती है; दूसरेका स्वभाव तो आप बदल सकतीं नहीं। हाँ, एक उपायसे उसका स्वभाव भी बदला जा सकता है—यदि आप कर सकें। वह है—उसके दोषोंको सर्वथा न देखकर गुणोंकी ओर ही दृष्टि रखना तथा भगवान्‌से उसके स्वभाव-परिवर्तनके लिये प्रार्थना करना। हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहाँ इस उपायसे विलक्षणरूपमें स्वभाव-परिवर्तन हुआ है।

आपने विपरीत परिस्थितियोंसे घबराकर आत्महत्या करनेकी बात लिखी है, सो आपको भूलकर भी ऐसा विचार मनमें नहीं लाना चाहिये। आत्महत्यासे बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है। आत्महत्यारेको मृत्युके समय तथा उसके बाद भी बड़ी कष्टप्रद यातना भोगनी पड़ती है।

आपका यह सोचना बिल्कुल यथार्थ है कि भगवत्स्मृतिसे शून्य जीवन धिक्कारके योग्य है; परंतु भगवान्‌की स्मृति सर्वथा हमारे वशकी बात है। यह सोचना कि अनुकूल परिस्थिति आनेपर ही हम भजन कर सकेंगे—हमारे मनका धोखा है। जिस परिस्थितिमें भी भगवान्‌ने हमको रखा है, उसे प्रभुका वरदान मानकर हमें उससे लाभ उठा लेना चाहिये। प्रभु हमारा अमङ्गल तो कभी कर ही नहीं सकते। सचमुच मृत्युका कोई ठिकाना नहीं; न जाने किस क्षण आ जाय। इसलिये कालके गालमें अपनेको निरन्तर अनुभव करते हुए हमें अपना एक-एक क्षण प्रभुकी स्मृतिमें बितानेका दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिये और प्रभुसे भी यही माँगना चाहिये कि हम उन्हें एक क्षणके लिये भी न भूलें। उनकी कृपासे असम्भव भी सम्भव हो सकता है।

सङ्गका प्रभाव मनुष्यपर अवश्य पड़ता है; परंतु प्रभु जब सदा-सर्वत्र हमारे साथ हैं और हमारी सहायता करनेको तैयार हैं, तब हमें भय किस बातका? यदि हमारा मन शान्त है तो लड़ाई-झगड़ा कौन किसके साथ करेगा? आप अपने मनको लड़ाई-झगड़ेसे सर्वथा दूर रखिये; कोई आपको गाली भी दे तो उसे चुपचाप आप सहन कर लीजिये। बदलेमें आप उसे गाली न दीजिये, न कटुवचन ही कहिये, मौन हो जाइये। फिर देखेंगी कि आपकी सहनशीलताका उसपर क्या प्रभाव पड़ता है।

घरके वातावरणको सुधारनेके लिये हमें अपने-आपको सुधारना होगा। दूसरोंको अपने अनुकूल बनानेका विचार त्यागकर हमको ही उनके अनुकूल बनना होगा।

दर्शन देना तो भगवान्‌के हाथमें है। हम उनसे प्रार्थना ही कर सकते हैं और उनकी कृपाकी बाट जोह सकते हैं। बस, पपीहा जैसे स्वातीकी बूँदके लिये तरसता रहता है, वैसे ही भगवान्‌के दर्शनके लिये मनमें व्याकुलता उत्पन्न कीजिये। हमारे मनमें उनसे मिलनेकी व्याकुलता होनेपर उन्हें बरबस हमसे मिलना ही होगा। शेष भगवत्कृपा।

(२)

भगवान्‌की ओर बढ़नेसे परलोकगत पतिदेवको भी सहायता प्राप्त होगी

प्रिय बहन!

सप्रेम हरिस्मरण। पतिसे वियुक्त होनेकी व्यथासे भरा हुआ तुम्हारा पत्र मिला। बहन! इस जीवनमें जो दुःख-सुख हमें मिलते हैं, वे हमारे इसी जीवनके कर्मोंके फल हों, यह आवश्यक नहीं है। न जाने किस पूर्वजन्मके दुष्कृत-सुकृत कर्मोंके फल हमें इस जीवनमें भोगने पड़ते हैं, इसे फलदाता भगवान्‌के सिवा कोई दूसरा नहीं जानता। इस उधेड़-बुनसे कोई लाभ नहीं है कि कौन-से कर्मका फल हमें इस जीवनमें भोगना पड़ रहा है। बस, इतना विश्वास रखना चाहिये कि कारणके बिना कार्य नहीं होता। कारण पहले होता है, कार्य पीछे। अतः इस जीवनमें जो कुछ भी सुख-दुःख हम भोग चुके हैं, भोग रहे हैं तथा आगे भोगेंगे, वे सब हमारे ही कर्मोंके फल हैं—इसमें कोई संदेह नहीं। अपने स्वजनोंकी मृत्यु आदि शोकप्रद घटनाओंसे हमें यही सीखना चाहिये कि शेष जीवनमें हम दुष्कृतोंसे बचे रहें और अच्छे कर्मोंमें ही अपना जीवन बितायें। भगवत्स्मरण तथा भगवद्बुद्धिसे प्राणिमात्रकी निष्काम सेवासे बढ़कर दूसरा कोई शुभ कर्म नहीं है।

भगवान् अपनी वस्तुको जहाँ रखना चाहें, रखें। उनके इस विधानमें हस्तक्षेप करनेको हमारा क्या अधिकार है? अपनी झाँकी दिखाना भी उन्हींके हाथकी बात है। वे जब उचित समझेंगे, तब दिखायेंगे। बस, उसके लिये हमारे मनमें छटपटाहट होनी चाहिये। उनके बिना हमसे रहा नहीं जायगा, तभी वे आयेंगे। तबतक उनके नामसे हमें लौ लगानी है; उनके रूप, गुण और लीलाओंमें हमें

मन लगाना है तथा उनकी कृपाकी बाट जोहनी है। भजन करना ही अपना काम है, बाकी वे जानें। इस प्रकार भगवान्‌की ओर बढ़नेसे तुम्हारे परलोकगत पतिदेवको भी सहायता प्राप्त होगी। वे भी ऊपर उठेंगे। तुम जितना ही भगवान्‌में मन लगाओगी, उतना ही उनका भी मङ्गल होगा; क्योंकि वे तुम्हारे साथ ममताके बन्धनसे जुड़े हुए हैं। उनके इस बन्धनको काटनेके लिये तुमको स्वयं सब ओरसे ममताको हटाकर भगवान्‌के चरणोंमें उसे जोड़ना होगा।

शेष भगवत्कृपा।

(३)

श्रीराम और श्रीकृष्णके रूपमें स्वयं भगवान् ही अवतीर्ण हुए थे

प्रिय महोदय !

सप्रेम हरिस्मरण।

आपका पत्र मिला। अवतारके विषयमें उसीकी बात प्रामाणिक मानी जायगी, जिसने शास्त्रोंका अवगाहन किया है और अवतारके तत्त्वको भलीभाँति समझा है। किसी भी महापुरुषका, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, यह विचार मान्य नहीं हो सकता कि ईश्वर किसी मनुष्यमें ही उतरता है, अपने दिव्य विग्रहसे मर्त्यलोकमें प्रकट नहीं हो सकता। भगवान्‌का किसी जीव-विशेषमें भी अवतरण होता है; ऐसे अवतरणको 'आवेशावतार' कहते हैं। परशुरामके रूपमें भगवान्‌का अवतरण आवेशावतारकी गणनामें ही है। भगवान् श्रीरामके सम्मुख होनेपर उनका वह भगवदावेश उतर गया था और उनकी शक्ति भगवान् श्रीराममें संक्रमित हो गयी थी। परंतु भगवान् स्वयं भी अपने सच्चिदानन्दमय विग्रहसे पृथ्वीपर प्रकट होते हैं। श्रीराम और श्रीकृष्णके रूपमें स्वयं भगवान् ही अवतीर्ण हुए थे। अतः आपसे प्रार्थना है कि आप किसीके भी कहनेसे अपनी इस मान्यताका त्याग न करें कि श्रीराम एवं श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् थे। वे त्रिलोकीके स्वामी हैं, अणु-अणुमें व्याप्त हैं। उन्होंने अनेक भक्तोंको प्रत्यक्ष दर्शन देकर कृतार्थ किया है, उनके कष्ट दूर किये हैं, अनेक अलौकिक कर्म करके दिखाये हैं, जिन्हें मनुष्य नहीं कर सकता; चाहे वह ईश्वरके कितना ही निकट क्यों न हो। उन्होंने विराट्‌रूपमें भी अपने भक्तोंको दर्शन दिये हैं। भगवान् सर्वसमर्थ हैं; वे जो चाहें, कर सकते हैं। शेष भगवत्कृपा।

(४)

भगवान्‌की कृपाका भरोसा करके निर्भय-निश्चिन्त रहो और उनकी उपासना करती रहो

प्रिय बहन !

सप्रेम हरिस्मरण। तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारी विषम परिस्थितिको जानकर मनमें बड़ा विचार हुआ। उत्तरमें, बहन ! यही निवेदन है कि तुम्हारा हृदय बड़ा अच्छा है, भगवान्‌की तुमपर बड़ी कृपा है। उसी कृपाके भरोसे निश्चिन्त रहना; घबराना बिल्कुल नहीं। भगवान्‌की कृपा हम सबपर निरन्तर बरसती रही है और सदा बरसती रहेगी। उस कृपाका कहीं अन्त नहीं है। हमलोग उसका आश्रय ग्रहण नहीं करते, इसीलिये दुःखी रहते हैं। भगवान्‌की कृपाका आश्रय पकड़ लेनेपर हम सदाके लिये दुःख, चिन्ता एवं भयसे मुक्त हो सकते हैं। भगवान् हमारे लिये सब कुछ करनेको सदा तत्पर हैं। बस, उनकी ओर दृष्टि रखनेकी आवश्यकता है। हम उनकी ओरसे दृष्टि हटा लेते हैं तथा दूसरी ओर ताकने लगते हैं, तभी दुःखी होते हैं; क्योंकि सुख और शान्ति केवल भगवान्‌में हैं, अन्यत्र कहीं नहीं। अतः सुखके लिये यदि किसी दूसरेकी आशा करेंगे तो हमें निराशा ही हाथ लगेगी।

तुमने लिखा—'भगवान्‌की पूजा-उपासना तुम करती हो, परंतु कभी-कभी उसमें तुम्हारा मन नहीं लगता।' इसका कारण यही है कि भगवान्‌का महत्त्व हमने समझा नहीं। पहली बात—भगवान् हैं, नित्य हैं, सर्वत्र हैं—ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ वे न हों; मेरे अंदर, तुम्हारे अंदर, सबके अंदर हैं, अत्यन्त निकट हैं; उन्हें पानेके लिये कहीं अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात—वे सर्वसमर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं, उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। तीसरी बात—वे वर्तमान,-भूत,-भविष्यमें विश्वके किस कोनेमें क्या हो रहा है, हुआ है और होनेवाला है—सब कुछ जानते हैं। हमें किस बातकी आवश्यकता है, हमारे मनमें क्या है, हम क्या चाहते हैं—इसका भी उन्हें ज्ञान है। और चौथी तथा सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे हमारे परम हितैषी हैं, हमें प्यार-ही-प्यार करते हैं, बदलेमें कुछ नहीं चाहते तथा हमारे दोषोंकी—बुराइयोंकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। इन सब बातोंपर हमें विश्वास नहीं होता, इसीलिये उनकी उपासनामें हमारा मन नहीं लगता। परंतु जैसे वैद्य अथवा डाक्टरके कहनेसे कड़ुई-से-कड़ुई दवा भी हम ले लेते हैं तथा शरीरमें नश्तर भी लगवा लेते हैं, उसी प्रकार महात्माओंके कहनेसे—जिन्होंने

भगवान्‌की सत्ताका और ऊपर लिखी सब बातोंका अनुभव किया है—दवाके रूपमें ही हम भगवान्‌की उपासना करते रहें। पित्त बढ़ जानेपर मिश्री भी कडुई लगने लगती है; परंतु पित्तका शमन भी मिश्रीसे ही होता है; अतः कडुई लगनेपर भी यदि हम मिश्री लेते रहें तो हमारी जीभका कडुआपन धीरे-धीरे दूर हो जायगा और फिर हमें मिश्री मीठी लगने लगेगी। इसी प्रकार बिना मनके भी यदि हम भगवान्‌की उपासना करते रहें, उनका नाम लेते रहें तो धीरे-धीरे उनकी उपासना, उनका नाम हमें मीठा लगने लगेगा और फिर हम उसे छोड़ नहीं सकेंगे।

बहन ! तुम्हारी यह अभिलाषा बड़ी सुन्दर है कि तुम्हारा मन एक पल भी भगवान्‌से दूर न हटे और तुम हर क्षण भगवान्‌का ही स्मरण करती रहो। साथ ही तुम्हारे मनमें किसीके भी प्रति द्वेषकी वृत्ति जाग्रत् न हो। इस भावनाको तुम निरन्तर बढ़ाती रहो। भगवान् कल्पवृक्ष हैं; उनसे तुम जो भी चाहोगी, तुम्हें वे देंगे। अवश्य ही हमारी भावना सच्ची होनी चाहिये। बस, भगवान्‌से निरन्तर यही प्रार्थना करती रहो कि 'प्रभु ! मैं तुम्हें भूलूँ नहीं, तुम मेरे हृदयमें सदाके लिये विराजमान हो जाओ।' किसीके प्रति द्वेष न हो, इसका सबसे सरल उपाय यह है कि सबमें भगवान्‌की भावना करो। जब सबमें भगवान् ही भरे हैं, तब किसीके प्रति द्वेष होगा ही कैसे ! शेष भगवत्कृपा।

तुम्हारा भाई,

चिम्मनलाल गोस्वामी

'अन्ततक निभ जाय तभी....'

एक कस्बेमें एक ठाकुरसाहब रहते थे। खेती-बारी खूब थी, गायें-भैंसें थीं, दूध-दही-मक्खन खानेको प्रचुरतासे मिलता था। किसी बातकी चिन्ता थी नहीं। इस नाते शरीर खूब हृष्ट-पुष्ट था। भगवान्‌की कृपासे जीवन भी बड़ा पवित्र था और स्वभाव बड़ा शान्तिप्रिय। क्षत्रिय-स्वभावकी उग्रताका कहीं लेश भी उनमें न था। प्राचीन परम्पराके अनुयायी होनेके नाते वे अपनी मूँछके बाल कभी कटवाते नहीं थे। इस कारण मूँछ बड़ी ही पुष्ट एवं लंबी हो गयी थी। ठाकुरसाहब जब बाहर निकलते, तब बच्चे उनकी मूँछकी ओर ही देखते रहते। ठाकुरसाहबकी अवस्था पचाससे ऊपर हो चुकी थी।

ठाकुरसाहबके मकानके सामने एक बनियेका मकान था। उसके एक लड़का था। उसकी अवस्था १०-१२ वर्षकी होगी तथा स्वभाव बड़ा ही चञ्चल एवं विनोदी था। अपनेसे बड़ोंके साथ भी वह विनोद करनेमें नहीं चूकता था। उसने एक कुत्ता पाल रखा था। उसके शरीरपर लंबे-लंबे बाल थे तथा उसकी दुम मोटी थी। एक दिन बच्चेको विनोद सूझा। जब ठाकुरसाहब घरसे निकले, तब उसने उनसे प्रश्न किया—'ठाकुरसाहब ! आपकी मूँछ बड़ी कि मेरे कुत्तेकी पूँछ ?' प्रश्न बड़ा ही चुभता हुआ एवं अपमानजनक था। परंतु ठाकुरसाहबने उसे बच्चेके विनोदके रूपमें ही ग्रहण किया। वे मुस्करा दिये और चले गये।

ठाकुरसाहबके इस शान्त उत्तरने बच्चेके हौसलेको बढ़ा दिया। अब तो वह प्रतिदिन ठाकुरसाहबके मिलनेपर यही प्रश्न करने लगा। ठाकुरसाहब भी मुस्करानेके अतिरिक्त एक शब्द भी उत्तररूपमें नहीं बोलते थे। एक-एक दिन करके ८—१० वर्ष बीत गये।

विधिका विधान ! एक दिन ठाकुरसाहब बीमार पड़ गये। नाना उपचार हुए, परंतु रोग बढ़ता ही गया। बीमारीके दिनोंमें भी ठाकुरसाहब बड़े ही शान्त रहते। वे रोगको भगवान्‌का वरदान मानकर प्रसन्नचित्त उसे सहन करते रहते। अन्तमें रोग सीमाको पार कर गया और ठाकुरसाहबको श्वास लेनेमें कष्ट होने लगा। ऐसा लगने लगा कि ठाकुरसाहब एक-दो दिनके मेहमान हैं; किंतु ठाकुरसाहबकी मनःस्थिति बिल्कुल ठीक थी। उन्होंने बनियेके लड़केको उसके प्रश्नका उत्तर देनेका निश्चय किया और अपने एक स्वजनको भेजकर उस लड़केको बुलवाया। लड़केने आकर ठाकुरसाहबको नमस्कार किया और उनकी गम्भीर शारीरिक स्थितिपर सहानुभूति प्रकट करने लगा। ठाकुरसाहबने मन्द स्वरमें कहा—"बेटा ! तुम प्रतिदिन पूछते थे—'ठाकुरसाहब ! आपकी मूँछ बड़ी कि मेरे कुत्तेकी पूँछ' ? मैं मुस्कराकर निकल जाता था। किंतु बेटा ! भगवान्‌ने मेरी लाज रखी, जीवन उनकी कृपासे पवित्रताके साथ कट गया। अब तो मैं कुछ घंटोंका मेहमान हूँ; अतएव अब मैं भगवान्‌की कृपाके बलपर कह सकता हूँ कि मेरी मूँछ बड़ी।"

बालककी आँखें भर आयीं। उसने कहा—'ठाकुरसाहब ! आप मुझे मेरे विनोदके लिये क्षमा करें; मैं आपका बालक हूँ। परंतु मैं यह जानना चाहता हूँ कि यह उत्तर तो आप पहले भी दे सकते थे; इतने वर्ष आप चुप क्यों रहे ?'

ठाकुरसाहबको बोलनेमें कष्ट हो रहा था, फिर भी उन्होंने रुक-रुककर कहा—''बेटा ! न जाने कब पैर फिसल जाय। अन्ततक निभ जाय, तभी निभा कहना उचित है। मृत्युके पूर्व यह कहना बनता नहीं कि जीवन पवित्रतापूर्वक बीत गया।'

बालक ठाकुरसाहबकी बात सुनकर चुप हो गया। उसे जीवनमें एक अनोखा सबक मिला।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

अनोखा सहपाठी

भारतको स्वतन्त्र हुए कुछ ही वर्ष हुए थे कि एक दिन पण्डित श्रीजवाहरलाल नेहरूको एक व्यक्तिगत पत्र इलाहाबादसे प्राप्त हुआ। पत्रलेखकने लिखा था—''भैया ! जवाहरलाल ! पता नहीं, तुम्हें वह पुरानी स्मृति है कि नहीं; हम और तुम कुछ दिन एक विद्यालयमें साथ पढ़े थे। हम दोनोंमें उस समय बड़ा प्रेम था। पीछे तुम्हारी शिक्षा अन्यत्र होने लगी, तुम उच्च शिक्षा प्राप्तकर राजनीतिमें आ गये, महान् नेता बने और देशके स्वतन्त्र होनेपर उसके प्रधान मन्त्रीके रूपमें आज कार्य कर रहे हो। मेरा जीवन एक साधारण गृहस्थका जीवन रहा और इस समय मैं रुग्ण हूँ तथा मृत्युकी बाट देख रहा हूँ। मेरे एक बालक है, जो अध्ययनमें विशेष रुचि रखता है। मेरे शरीरकी गिरती हुई हालतको देखकर वह रोता है कि 'पिताजी ! आपके पीछे मेरी पढ़ाईका क्या होगा ?' बालककी अध्ययनके प्रति ऐसी अभिरुचि देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है; किंतु साथ ही हृदय व्यथासे भर जाता है कि मेरे न रहनेपर यह अपने अध्ययनको कैसे चालू रख पायेगा। मेरी आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय है; किसी प्रकार अपना जीवन-निर्वाह कर रहा हूँ। अचानक मुझे तुम्हारी—तुम्हारे स्नेहकी स्मृति हुई और यह पत्र मैं लिखनेको प्रस्तुत हो गया। पता नहीं, यह पत्र तुम्हारे हाथोंमें पहुँच पायेगा कि नहीं और तुम्हें इतनी पुरानी बातकी स्मृति होगी कि नहीं। भैया ! मेरी अभिलाषा है कि मृत्युसे पहले तुमसे एक बार मिलना हो जाय। मेरी शारीरिक स्थिति यात्रायोग्य नहीं है और तुम दिल्लीमें हो; अतएव लगता है कि तुमसे मिलनेकी इच्छा लिये हुए ही मैं चला जाऊँगा ''।''

यह पत्र प्राप्तकर श्रीनेहरूजीने तत्काल अपना इलाहाबादका प्रोग्राम बनाया। इलाहाबाद पहुँचनेपर बिना आडम्बरके वे अपनी कार लेकर पत्रमें लिखे पतेके अनुसार अपने उस पुराने मित्रके घर पहुँच गये। घर क्या था; एक साधारण टूटा-फूटा कमरा, जिसमें एक टूटी हुई चारपाईपर पत्रलेखक महोदय भीषण व्याधिसे आक्रान्त पड़े हुए थे। श्रीनेहरूजी उसी कमरेमें घुस गये और अपने पदकी—अपने बड़प्पनकी सर्वथा विस्मृति कर उस साथीकी टूटी हुई चारपाईके एक कोनेपर बैठ गये और बोले—''भैया ! तुम्हारा पत्र मुझे परसों ही मिला था; मुझे पुरानी बातें अच्छी प्रकार स्मरण हैं। तुम इतने वर्षोंतक मुझे नहीं भूले; तुमने उस पुराने प्यारकी स्मृति इतने वर्षोंतक बनायी रखी, भैया ! यह तुम्हारा बड़प्पन है। अब बोलो; तुमने मुझे किस हेतुसे याद किया है ?''

रुग्ण मित्रका हृदय भर आया; उसके नेत्रोंसे प्यारके आँसुओंकी अजस्र धारा बह चली। वह नेहरूजीके दोनों हाथ अपने हाथोंमें लेकर उन्हें बार-बार मलने लगा। लगभग दस मिनट पश्चात् वह अपनेको सँभाल पाया, तब उसने श्रीनेहरूजीसे कहा—'भैया ! मेरा यह इकलौता पुत्र है। इसकी अध्ययनके प्रति बड़ी रुचि है; किंतु मैं तो जगत्से अब विदा हो रहा हूँ। पीछे यह कैसे अपनी पढ़ाईको चालू रखे, इसका कुछ भी ठिकाना नहीं है। भैया ! मैं इसे तुम्हारे हाथोंमें सौंप रहा हूँ। किसी प्रकार इसके अध्ययनकी व्यवस्था कर देना।' यों कहते-कहते उसने अपने बालकके दोनों हाथ नेहरूजीके हाथोंमें सौंप दिये। नेहरूजीका हृदय भी भर आया। उन्होंने कहा—'भैया ! जैसा यह बालक तुम्हारा है, वैसा ही मेरा है। तुम निश्चिन्त रहो, इसकी पढ़ाईकी व्यवस्था हो जायगी। अब बोलो, तुम्हारे उपचार आदिकी क्या-क्या व्यवस्था करवा दूँ।' मित्र बड़ा संतोषी ब्राह्मण था। उसने हाथ जोड़ लिये और बोला—'भैया ! उसकी तुम चिन्ता मत करो; इतने दिन बीत गये, अब तो १०-५ दिनका खेल और है। भगवान्की कृपासे ये दिन भी व्यतीत हो जायँगे।'

श्रीनेहरूजीने लड़केसे कहा—'बेटा ! पिताजीके ठीक होनेपर अथवा पिताजीके न रहनेपर तुम दिल्ली आकर मुझसे मिल लेना। मैं तुम्हारे अध्ययनकी सब व्यवस्था कर दूँगा। वहाँ तुम्हें लोग मुझसे नहीं मिलने देंगे; अतः मैं एक कागजपर कुछ लिख देता हूँ। तुम वहाँके अधिकारियोंको यह लिखा हुआ कागज दिखा देना; वे तुम्हें मुझसे मिला देंगे।'

विधिका विधान ! इस मिलनके १०-१२दिन पश्चात् ही मित्रका शरीर शान्त हो गया। पड़ोसी-स्वजनोंने दाह-संस्कार आदि कृत्य किये। श्राद्धकर्म होनेके पश्चात् बालक किसी प्रकार दिल्लीतकके रेल-किरायेकी व्यवस्था कर वहाँ गया और पूछता-पूछता श्रीनेहरूजीके बँगलेपर जा पहुँचा। एक साधारण बालकको मैले-फटे कपड़ोंमें देखकर दरवानने रोक दिया। बालकने श्रीनेहरूजीद्वारा लिखकर दिया गया कागज दिखलाया। दरवान उसे लेकर नेहरूजीके सेक्रेटरीके पास गया। सेक्रेटरी महोदयने उस कागजको पढ़ा और उसे लेकर वे नेहरूजीके पास पहुँचे। श्रीनेहरूजीने जब अपना दिया हुआ कार्ड देखा, तब उन्हें उस बालककी स्मृति हो आयी और वे स्वयं उसको लिवा लानेके लिये बाहर चले आये। बच्चेने झुककर प्रणाम किया और श्रीनेहरूजी उसके कंधेपर हाथ रखकर उसे अपने कमरेमें ले गये। श्रीनेहरूजीने उससे पूछा—'बेटा ! तुम क्या पढ़ना चाहते हो ?' लड़केने उत्तर दिया—'मैं संस्कृत पढ़ना चाहता हूँ। इलाहाबादमें मैं जिस संस्कृत-विद्यालयमें पढ़ रहा हूँ, वहाँके अध्यापक बहुत ही योग्य हैं और उनकी शिक्षण-शैली बहुत ही उत्तम है। ३५·०० रुपया मासिक खर्चकी व्यवस्था हो जाय तो मैं उस विद्यालयमें अध्ययन कर सकता हूँ। इतने रुपयोंमें मेरे भोजन, वस्त्र तथा पुस्तकों आदिकी अच्छी व्यवस्था हो जायगी।'

श्रीनेहरूजीने कहा—'बेटा ! तुम जहाँ पढ़ना चाहते हो, वहीं तुम्हारी व्यवस्था कर देता हूँ। तुम्हें प्रतिमास १००·०० रुपये मिलते रहेंगे। तुम खूब मन लगाकर पढ़ाई करो। जब भी तुम्हारा मन हो, तुम दिल्ली चले आओ और मुझसे मिल लो। तुम मुझे अपने पिताके स्थानपर ही मानो; किसी प्रकारकी चिन्ता मत करना।'

अपने अध्ययनकी मनचाही व्यवस्था होनेसे बालकका हृदय खिल उठा। वह बार-बार श्रीनेहरूजीके चरण छूने लगा। पीछे श्रीनेहरूजीने उसके भोजन आदिकी व्यवस्था करवायी और सायंकालकी गाड़ीसे उसको इलाहाबाद भेज दिया।

लड़का पाठशालामें अध्ययन करने लगा। प्रत्येक महीनेके प्रथम सप्ताहमें उसको श्रीनेहरूजीकी ओरसे १००·०० रुपये प्राप्त होने लगे। निश्चिन्तता और आरामके साथ उसका जीवन व्यतीत होने लगा। वह अपनी कक्षामें सदा प्रथम आता था। अध्यापक उसकी योग्यतासे विशेष प्रसन्न थे। वर्षमें एक बार बालक दिल्ली पहुँच जाता और नेहरूजी उससे बड़े ही स्नेहसे मिलते। एक बार बालक जब श्रीनेहरूजीके आवासपर पहुँचा, तब उनके सेक्रेटरीने उसे आध घंटे बैठकर प्रतीक्षा करनेके लिये कहा। बालकके लिये यह नया अनुभव था; प्रत्येक बार तो वह पहुँचते ही नेहरूजीसे मिल लेता था। आधे घंटेके पश्चात् श्रीनेहरूजीने बालकको अपने पास बुलाया और बोले—'बेटा ! आज तुमको आध घंटा प्रतीक्षा करनी पड़ी। मैं अमेरिकाके राजदूतसे वार्तालाप कर रहा था। मैं तुम्हें उनकी उपस्थितिमें ही अपने पास बुला लेता, किंतु यह उन लोगोंके देशके शिष्टाचारके प्रतिकूल होता।' इसके पश्चात् उन्होंने उससे उसकी पढ़ाई आदिकी प्रगतिके बारेमें पूछा।

इस प्रकार बालक श्रीनेहरूजीके प्यारमें पलता रहा और अपने अध्ययनमें अच्छी प्रगति करने लगा। उसने संस्कृत लिखने और बोलनेमें भी अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। हमारे परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार एक बार दिल्ली-प्रवासमें थे। उस समय वह बालक उनसे मिला था। बड़ी ही प्राञ्जल और शुद्ध संस्कृतमें वार्तालाप कर रहा था। उसकी योग्यतापर मुग्ध होकर श्रीभाईजीके निकटस्थ व्यक्तियोंने जब उससे उसके अध्ययन आदिके बारेमें पूछा, तब उसने श्रीनेहरूजीके प्यारका उपर्युक्त विवरण सुनाया।

(२)

नया अवतार

कञ्चनवर्णकी कायावाले नौजवान नन्दूको न मालूम कैसे अकस्मात् गलित-कुष्ठका रोग लग गया। रोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। देहमेंसे दुर्गन्ध फैल रही थी, जैसे नन्दू अस्पृश्य बन गया था। नन्दूके माता-पिता स्वर्गवासी हो चुके थे। भाई-भाभी थे, किंतु अब वे नन्दूके पास जानेको तैयार नहीं थे ! पड़ोसके लोग नन्दूको खेतके एक छप्परमें छोड़ आये थे। टूटी-फूटी खटियामें पड़ा-पड़ा नन्दू राम-रामका मन्द स्वरसे उच्चारण करता दिन काट रहा था। जंगलमें किसीको दया आ जाती तो थोड़ा पानी और रोटीके दो टुकड़े मिल जाते। असहाय नन्दू इसीलिये जी रहा था कि उसकी मृत्यु नहीं आ रही थी।

गाँवके लोग कहते थे—'अब नन्दू थोड़े ही दिनोंका मेहमान है।' राम-नामके सिवा अब नन्दूका कोई सहारा नहीं था। भाई-भाभीके लिये तो नन्दू कबका मर चुका था।

जंगलके बीच खेतके रास्तेसे एक किशोर जा रहा था कि उसे 'पानी' 'पानी'की आवाज सुनायी दी ! आज दिनभरमें नन्दूको पानी भी नहीं मिला था। पानीकी पुकार सुनते ही बाल-हृदयमें दयाका स्रोत उमड़ पड़ा। उसके

पाँव उस झोंपड़ीकी ओर खिंचने लगे। दूरसे ही बदबू आ रही थी, किंतु हृदयकी दयाकी सुवाससे वह दुर्गन्ध दब जाती थी। झोंपड़ीमें पहुँचते ही किशोरने प्रश्न किया— 'क्यों नन्दू! पानी पीना है क्या? मैं अभी ला देता हूँ'''

'नहीं, मेरे भाई!' किशोरको देखकर नन्दूकी आँखोंमें आँसू आ गये। वह बोला—'तू चला जा यहाँसे, मुझे अब मरने दे, कहीं तुझे रोग लग जायगा तो''''''।' कहते-कहते नन्दू फूट-फूटकर रोने लगा।

'नहीं, नन्दू! नहीं!' किशोरने दृढ़तासे कहा—'रोग लगता हो तो भले लगे, किंतु मैं तुम्हें पानी बिना मरने नहीं दूँगा'

—कोनेमें पड़ी टूटी हुई मटकी लेकर किशोर पासके कुएँपर गया और पानी लेकर आ पहुँचा। आकर उसने नन्दूको पानी पिलाया। नन्दू प्रसन्न हो गया; वह किशोरको आशीर्वाद देने लगा।

किंतु किशोरको अभी संतोष नहीं हुआ था। वह जल्दीसे दौड़कर अपने खेतमें गया और घासकी गठरी उठाकर वह अपने घर आया। जाते ही उसने अपनी माँसे नन्दूके दुःखकी बात कह सुनायी। माँ भी साक्षात् दयाकी देवी थी। उसने कहा—'बेटा! तूने जो किया, सो अच्छा किया, अब तुझे भी भूख तो लगी होगी। मगर बेचारा नन्दू न मालूम कितने दिनोंसे भूखा पड़ा होगा; ये रोटियाँ और साग लेकर दौड़ते हुए जाकर उसे दे आ। बेटा! अपने पेटकी तो कुत्ते भी चिन्ता करते हैं, दूसरेके पेटकी चिन्ता करे, वही सच्चा मानव है।'

किशोरने जाकर नन्दूको भोजन दिया। नन्दू भोजन प्राप्तकर बड़ा ही प्रसन्न हुआ। उसको लगा—जैसे इस किशोरके रूपमें आकर साक्षात् भगवान् ही उसे भोजन दे रहे हैं। रोटी खाते-खाते नन्दू सोच रहा था—"मेरा प्यारा राम प्रत्येकके हृदयमें बैठा हुआ है; उसमें भी 'हारेको हरिनाम' तो निराशाके घोर अन्धकारमें भी अमृतका काम करता है। मनुष्य तो मात्र अपनी ही चिन्ता करता है, मेरा राम तो सारी दुनियाको खिलाकर ही खाता है।'

थोड़े ही दिनोंमें नन्दूकी चिन्ताका भार किशोरके माता-पिताने ले लिया। माता-पिता और किशोर बालक—तीनोंने मिलकर नन्दूकी सेवा-शुश्रूषा शुरू की। औषध, पथ्य और मानवताके स्पर्शसे नन्दू अच्छा होने लगा। उसके शरीरमें चन्दनकी-सी शीतलताका अनुभव होने लगा।

भला-चंगा होनेमें ६-८ मास लग गये, किंतु अच्छा होनेके बाद नन्दूकी श्रद्धा एवं मानवता और अधिक तेज बन गयी। किसीका दुःख-दर्द सुनकर वह उसकी सेवा-शुश्रूषामें लग जाता था। वह मानता था—"ईश्वरने मुझे 'नया अवतार' इसीलिये दिया है कि मैं दूसरोंके दुःख-दर्दको अपना दुःख-दर्द समझूँ।"

'अखंड आनन्द' —प्रा० हरीश व्यास

(३)

ऋणमुक्ति

पचास वर्ष पूर्वकी बात है। भावनगर (सौराष्ट्र) उस समय रियासत थी। उसके दीवान बड़े ही प्रभावशाली एवं राजनीतिज्ञ थे। राज्यके सर्वोपरि पदपर प्रतिष्ठित होनेपर भी वे बड़े ही धर्म-न्यायनिष्ठ एवं प्रजावत्सल थे। उनका नाम था—'प्रभाशंकर पट्टनी'। शहरके बाहर वे एक आलीशान बँगलेमें रहते थे। एक दिन प्रातः ९ बजे एक सज्जनने आकर चौकीदारसे कहा—'मुझे दीवान साहबसे मिलना है।' चौकीदारने आफिसमें जाकर दीवान साहबके सेक्रेटरी महोदयको खबर दी। सेक्रेटरी महोदयने बाहर आकर पूछा—'क्या काम है आपको?'

'आप कृपया दीवान साहबको मेरा नाम बतला दीजिये, वे मिलनेकी आज्ञा दे देंगे।' आगन्तुक सज्जनने कहा।

सेक्रेटरी महोदयने बँगलेके मध्यकक्षमें बैठे हुए श्रीपट्टनीजीसे निवेदन किया—'अमुक नामके एक सज्जन आपसे मिलना चाहते हैं।'

'नामका तो मुझे स्मरण नहीं आता', पट्टनीजीने उत्तर दिया—'उन्हें लिवा लाइये, मैं उनसे मिलूँगा।'

सेक्रेटरी महोदय बाहर गये और उन सज्जनको अपने साथ भीतर ले गये। आगन्तुक सज्जनने सम्मुख उपस्थित होकर दीवान साहबको नमस्कार किया। दीवान साहबने उन्हें पासके आसनपर बैठनेको कहा और वे उसपर बैठ गये। बैठनेके बाद श्रीपट्टनीजीने चाय-नाश्ता मँगवाया और वे उन सज्जनके साथ चाय पीने लगे। चाय पीते-पीते दीवान साहबने प्रश्न किया—'कहिये महाशय! किस कामसे आप पधारे?'

आगन्तुक सज्जनने श्रीपट्टनीजीके हाथमें चार हजारका चेक देते हुए कहा—'मैं यह चेक आपकी सेवामें समर्पण करनेको आया हूँ।'

'मगर इतनी बड़ी रकम आप मुझे क्यों दे रहे हैं?' श्रीपट्टनीजीने चौंककर प्रश्न किया।

'आप मुझे पहचान नहीं सके हैं?' आगन्तुक सज्जनने कहा—'मैं अभी-अभी भावनगरमें न्यायाधीश बनकर आया हूँ; आपका मेरे ऊपर बचपनका ऋण था, सिर्फ उसे चुकाना है।'

'किंतु मैंने तो कभी आपको रुपये नहीं दिये।' श्रीपट्टनीजीने कहा—'मैं तो आपका नामतक नहीं जानता।'

'मैं आपको स्मरण दिलाता हूँ, महाशयजी!' आगन्तुक जज साहब बोले—'मैं आपके गाँवमें एक विधवाका पुत्र था। मेरी गरीबीकी स्थितिमें सहायता देकर आपने मुझे पढ़ाया। शहरमें जाकर मैं बी० ए०, एल्-एल० बी० हुआ। मैं मजिस्ट्रेट बना। आपने सहायताकी रकम जैसे-जैसे भेजी थी, मैं उसे वैसे-वैसे नोट करता रहा। यह चार हजारकी रकम स्वीकार कीजिये और मुझे ऋणमुक्त·······'

'ऐसे ऋणमुक्त नहीं हो सकते आप!' दीवान साहब अब आगन्तुक सज्जनको पहचान गये थे। वे पुनः बोले—'इस चेकको आप वापस ले जाइये। इस रकममें आप अपनी कुछ रकम और मिलाकर गरीब विद्यार्थियोंकी सहायता कीजिये, तब आप ऋणमुक्त हो सकेंगे।'

'अच्छा, महाशयजी! यथाशक्ति आदेशका पालन करूँगा।' न्यायाधीशका हृदय भर आया। उन्होंने दीवान साहबको झुककर नमस्कार किया और उनसे विदा ली।

—विनोद पुरोहित, एम्० ए०

(४)

'आप सबने तो मेरी भूलको ही सुधारा है'

'क्यों हमलोगोंको विलम्ब नहीं हो रहा है? पसीनेसे तर-बतर तो हम सब भी हैं, पर कुछ बोलना व्यर्थ ही है!' इस तरहके विरोधकी मन्द ध्वनि श्रीभाईजी (श्रीहनुमान-प्रसादजी पोद्दार) के कानोंतक भी जा पहुँची। स्वेद-कणोंसे भरा मस्तक, अत्यधिक श्रमसे श्रान्त शरीर, छड़ीके सहारे उठते हुए चरण क्षणार्धमें वहीं ठहर गये। श्रीभाईजी उस पंजाबी नवयुवककी ओर बढ़े और स्नेहसे कुछ बोलना ही चाहते थे कि गीताभवनके उत्साही सत्सङ्गी, जिन्होंने अपनी निस्स्वार्थ सेवाएँ अपने प्रवासके समयमें गीता-भवनको अर्पित कर रखी थीं, एक साथ ही बोल उठे—'आप जानते हैं, ये कौन हैं?'—स्वर तीखा था और प्रश्न भी टेढ़ा।

'होंगे कोई, हमसे क्या, पर जब सब पंक्ति (लाइन) से जा रहे हैं, तब इन्हें क्रम तोड़कर यह सुविधा क्यों दी जा रही है?'—पंजाबी नवयुवकोंका स्वर भी तीखा हो चला था!

'जबान सँभालकर बोलिये, नहीं तो·······'

'नहीं-नहीं, ये ठीक ही तो कह रहे हैं; व्यवस्था तथा क्रमकी दृष्टिसे यही उचित है।'—स्नेह-मिश्रित स्वरमें श्रीभाईजी बोल उठे।

उत्साही सत्सङ्गियोंने परिचय देनेके उद्देश्यसे कहा—'बतलावें इनका परिचय·····'

'व्यर्थकी बात मत कीजिये।'—गम्भीर स्वरमें श्रीभाईजीने सत्सङ्गियोंसे कहा।

पंजाबी नवयुवक भी असमञ्जसमें पड़ गये; उन्हें भी सोचनेके लिये विवश होना पड़ा कि आखिर बात क्या है। इसी बीच भाईजी मन्द-स्मितके साथ उनमेंसे एक नवयुवकके कंधेपर हाथ रखते हुए बोले—'आप जाइये; मैं अब पंक्तिसे आकर ही वोटमें बैठूँगा।' और उसी स्मितके साथ वे पीछे लौट पड़े पंक्तिमें खड़े होनेके लिये।

उसी रात्रिको श्रीभाईजी गीताभवनमें प्रवचन करके आसनसे उठ ही रहे थे कि अचानक श्रोताओंके विशाल समुदायमेंसे वे ही नवयुवक सामने आ उपस्थित हुए; लज्जाके कारण उनके मस्तक झुके हुए थे, पश्चात्तापका परिताप उनके मुखपर छाया हुआ था—'हमें क्षमा कर दीजिये, हमलोगोंने आपको पहचाना नहीं था। हमारे कारण दोपहरमें आपको डेढ़ घंटे धूपमें प्रतीक्षा करनी पड़ी'—रुद्ध-कण्ठसे समवेत क्षमा-याचनाका स्वर फूट पड़ा।

'नहीं-नहीं, इसमें क्षमाकी क्या बात है? क्षमा तो उसे किया जाता है, जिसने कोई अपराध किया हो; आप सबने तो मेरी भूलको ही सुधारा है। क्षमा तो मुझे माँगनी चाहिये।'— पासमें खड़े हुए नवयुवकको गलेमें भरते हुए श्रीभाईजीने मृदु हास्यके साथ कहा।

नवयुवकोंका हृदय रो उठा—अपने अहंकारके पोषणके लिये कहे गये शब्द उन्हें कचोट रहे थे और मनपर थी, श्रीभाईजीकी महान् सहनशीलताकी, क्षमाकी—उदारताकी एवं स्नेहकी अमिट छाप, जो जीवनमें सदा उनका मार्गदर्शन करती रहेगी।

सम्मान्य ग्राहकों और पाठकोंसे निवेदन

१—'कल्याण'का यह ४७वें वर्षका १०वाँ अङ्क है। ११वाँ एवं १२वाँ अङ्क—ये दो अङ्क और
निकल जानेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा। सदाकी भाँति ४८वें वर्षका प्रथम अङ्क विशेषाङ्क होगा। इस वर्षका
विशेषाङ्क 'श्रीगणेश-अङ्क' के नामसे प्रकाशित होने जा रहा है। श्रीगणेश-सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक
विषयोंपर प्रामाणिक सामग्रीका संग्रह इस अङ्कमें रहेगा और यह अङ्क तत्त्व एवं साधनाकी दृष्टिसे बड़ा ही महत्त्वपूर्ण
होगा। भगवान् श्रीगणेशकी लीला भी विभिन्न पुराणोंके आधारपर विस्तारसे इसमें रहेगी, इससे यह अङ्क गम्भीर
एवं रोचक—दोनों होगा।

२—[illegible] वर्ष 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क १२.०० रुपये कर दिया गया है। यह सर्वविदित है कि
कागज़के [illegible] लगातार बढ़ रहे हैं तथा छपाईके अन्य उपकरणोंके मूल्यमें भी बड़ी वृद्धि हो रही है।
कर्मचारियों[illegible]न आदि इधर दो-तीन वर्षोंमें बहुत बढ़े हैं। ऐसी परिस्थितियोंमें 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क
[illegible]नेकी विव[illegible]पूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी है।

३—सदस्योंको अपना वार्षिक शुल्क शीघ्र भेजनेकी कृपा करनी चाहिये। सदस्योंकी सुविधाके लिये
मनीआर्डर-फार्म इस अङ्कके साथ ही भेजा जा रहा है। रुपये भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें अपना नाम,
पता, ग्राम या मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ-साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। ग्राहक-
संख्या अवश्य लिखें। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखना न भूलें। ग्राहक-संख्या न लिखनेसे
आपका शुभ नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है।

४—सदस्योंको रुपये भेजनेमें शीघ्रता करनी चाहिये, कारण विशेषाङ्क सीमित संख्यामें ही छापा जा रहा
है। [illegible]वर्ष 'श्रीविष्णु-अङ्क'के लिये कई हजार पुराने ग्राहकोंको निराश होना पड़ा। 'श्रीगणेश-अङ्क'के
सम्बन्धमें भी यही बात समझनी चाहिये। अतः मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजकर अपना अङ्क पहलेसे
सुरक्षित करा लेना चाहिये।

५—जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर
अवश्य सूचना दे दें, जिससे आपके 'कल्याण'को व्यर्थ हानि न सहनी पड़े।

६—इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत विलम्बसे दिये जानेकी सम्भावना है। यों
सजिल्द अङ्कका वार्षिक मूल्य रु० ~~११.५०~~ १४.०० है।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीगीता-जयन्ती

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

'जो पुरुष सर्वत्र सबके सुख-दुःखको अपने सुख-दुःखके समान देखता है, वही, अर्जुन ! मेरे मतसे श्रेष्ठ योगी है।'

आजके इस अत्यन्त संकीर्ण स्वार्थपूर्ण जगत्‌में दूसरेके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझनेकी शिक्षा देनेके साथ कर्तव्य-कर्मपर आरूढ़ करानेवाला और कहीं भी आसक्ति-ममता न रखकर केवल भगवत्सेवाके लिये ही यज्ञमय जीवन-यापन करनेकी सत्-शिक्षा देनेवाला सार्वभौम ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता ही है। इसका विश्वमें जितना ही वास्तविक रूपमें अधिक प्रचार होगा, उतना ही वह सच्चे सुख-शान्तिकी ओर आगे बढ़ सकेगा।

इस वर्ष मार्गशीर्ष शुक्ला ११, गुरुवार, दिनाङ्क ६ दिसम्बर, १९७३ ई०को श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व-दिवस है। इस पर्वपर जनतामें गीताप्रचारके साथ ही श्रीगीताके अध्ययन—गीताकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेकी स्थायी योजना बननी चाहिये। आजके किंकर्तव्यविमूढ़ मोहग्रस्त मानवके लिये इसकी ही आवश्यकता है। इस पर्वके उपलक्षमें श्रीगीतामाता तथा गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णका शुभाशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य और यथासम्भव देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य होने चाहिये—

(१) गीता-ग्रन्थका पूजन।

(२) गीताके महान् वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासका पूजन।

(३) गीताका यथासाध्य व्यक्तिगत और सामूहिक पारायण।

(४) गीतातत्त्वको समझने-समझानेके लिये, गीता-प्रचारके लिये, समस्त विश्वको दिव्य ज्ञानचक्षु देकर सबको निष्कामभावसे कर्तव्यपरायण बनानेकी महान् शिक्षाके परम-पुण्य दिवसका स्मृति-महोत्सव मनानेके लिये सभाएँ, प्रवचन, व्याख्यान आदिका आयोजन, भगवन्नाम-संकीर्तन आदि।

(५) महाविद्यालयों और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीतापरीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण।

(६) प्रत्येक मन्दिर, देवस्थान, धर्मस्थानमें गीताकथा तथा अपने-अपने इष्ट भगवान्का विशेषरूपसे पूजन।

(७) जहाँ किसी प्रकारकी अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीताजीकी शोभायात्रा।

(८) सम्मान्य लेखक और कवि महोदय गीता-सम्बन्धी लेखों और सुन्दर कविताओंके द्वारा गीता-प्रचार करें।

चिम्मनलाल गोस्वामी

सम्पादक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)